वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४८ अंक ६
जून २०१०
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ६

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ।।१३८।।

अन्वय – तमसा विमूढस्य अतस्मिन् तद्-बुद्धिः प्रभवति, विवेक-अभावात् वै भुजगे रज्जुधिषणा स्फुरति, ततः समादातुः अधिकः अनर्थ-व्रातः निपतति । ततः, (हे) सखे शृणु – यः असद्-ग्राहः सः हि बन्धः भवति ।

अर्थ – तमोगुण अर्थात् अज्ञान के द्वारा भ्रमित व्यक्ति को इस देहादि में आत्म-बुद्धि पैदा होती है । विवेक के अभाव में ही सर्प में रज्जु की धारणा होती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अनेक विपत्तियों में जा गिरता है । अतः हे सखे, सुनो – मिथ्या वस्तु को स्वीकार करना ही बन्धन का कारण बन जाता है ।

अखण्ड-नित्याद्वय-बोधशक्त्या
स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् ।
समावृणोत्यावृति-शक्तिरेषा
तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ।।१३९।।

अन्वय – एषा तमोमयी आवृतिशक्तिः अखण्ड-नित्य-अद्वय-बोधशक्त्या स्फुरन्तं अनन्त-वैभवम् आत्मानम् अर्क-बिम्बम् राहुः इव सम्-आवृणोति ।

अर्थ – (ग्रहण-काल में) जैसे राहु विराट् सूर्य-मण्डल को पूरी तौर से ढक देता है, वैसे ही (माया की) यह तमोगुण-मयी आवरण-शक्ति अखण्ड, नित्य, अद्वय ज्ञान-शक्ति से प्रकाशमान अनन्त वैभवशाली आत्मा को आवृत्त कर लेती है ।

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमा-
ननात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति ।
ततः कामक्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति ।।१४०।।

अन्वय – अमलतर-तेजोवति स्वात्मनि तिरोभूते पुमान् मोहात् अनात्मानं शरीरं 'अहम्' इति कलयति । ततः रजसः विक्षेपाख्या उरुशक्तिः अमुं काम-क्रोध-प्रभृतिभिः बन्धनगुणैः परं व्यथयति ।

अर्थ – अति निर्मल, तेजोमय आत्म-स्वरूप जब अज्ञान से ढककर तिरोभूत प्रतीत होने लगता है, तब व्यक्ति भ्रान्तिवश अनात्मा शरीर को ही 'मैं' समझने लगता है । इसके बाद रजोगुण की 'विक्षेप' नामक प्रबल शक्ति व्यक्ति को काम-क्रोध आदि की रस्सियों से बाँधकर बहुत कष्ट देती है ।

महामोह-ग्राहग्रसन-गलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थां स्वयमभिनयंस्तद्गुणतया ।
अपारे संसारे विषय-विषपूरे जलनिधौ
निमज्योन्मज्यायं भ्रमति कुमतिः कुत्सितगतिः।।१४१।।

अन्वय – अयं कुत्सितगतिः कुमतिः महा-मोह-ग्राह-ग्रसन-गलित-आत्मा-अवगमनः धियः नाना-अवस्थां तद्गुणतया स्वयम् अभिनयन् विषय-विषपूरे अपारे संसारे जलनिधौ निमज्य उन्मज्य भ्रमति ।

अर्थ – (मूल अज्ञान से उत्पन्न) महामोह रूपी मगरमच्छ के जबड़े में पड़कर, दुर्बुद्धि तथा कुत्सित गति को प्राप्त हुआ जीव, अपना आत्मज्ञान पाने का प्रयास भूल गया है; वह बुद्धि की (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूपी) विभिन्न अवस्थाओं और (कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूपी) उसके गुणों का अनुकरण करते हुए, इस अपार संसार-समुद्र के विषय-रूपी विष के प्रवाह में कभी डूबता, तो कभी उतराता हुआ भ्रमण करता रहता है ।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण वन्दना

– १ –

(भैरवी या केदार–रूपक)

(तर्ज – श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन)

हे रामकृष्ण दयानिधे, निज-चरण-आश्रय दीजिए,
मम दीन-आकुल प्रार्थना, सुनकर भी क्यूँ न पसीजिए।।

आया हूँ सब कुछ छोड़कर, अपनों से नाता तोड़कर,
स्वीकार कर निज गोद में, दुख दूर मेरे कीजिए।।

संग भेंट-पूजा कुछ नहीं, नाराज मत होना कहीं,
यह प्राण-जीवन आपका, स्वीकार कर रख लीजिए।।

मैं तो 'विदेह' मलीन हूँ, पर जलरहित ज्यों मीन हूँ,
अब हे सुधासागर प्रभो, सुख आप ही में है जिए।।

– २ –

(आसावरी-कहरवा)

जपो मन रामकृष्ण अविराम।
जो चाहो सुख-शान्ति जगत् में,
पूरन सबविध काम।।

परम मधुर यह अमिय प्राण का,
औषधि भव से परित्राण का,
देता है यह मंत्र अलौकिक, तन-मन को बिसराम।।

दीन-दुखी आश्रित जन तारक,
पाप और सन्ताप निवारक,
आर्तजनों का एकमात्र यह, चिन्मय-चिर-सुखधाम।।

श्रद्धा-भक्ति जगाये नर में,
प्रज्ञा-दीप जलाये उर में
पाने को यह चिर अमोल धन, लगता नहीं छदाम।।

तजकर जग की माया विषमय,
जनम-मरण से होकर निर्भय,
रख 'विदेह' इसको जिह्वा पर, प्रतिपल आठों याम।।

महान् धर्माचार्य – श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

मेरे गुरुदेव कोलकाता नगर के समीप रहने आये। यह नगर भारत की राजधानी* तथा हमारे देश का सबसे महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय-नगर है, जहाँ से प्रतिवर्ष सैकड़ों नास्तिक तथा भौतिकवादी बाहर निकलते हैं – तो भी विश्वविद्यालय के इन्हीं सन्देहवादी तथा अज्ञेयवादी व्यक्तियों में से अनेक लोग उनके पास आते और उनकी बातें सुनते थे। मैंने भी उस व्यक्ति के बारे में सुना और उनके उपदेश सुनने उनके पास गया। मेरे गुरुदेव एक अत्यन्त साधारण मनुष्य जैसे ही प्रतीत होते थे। उनमें कोई विशेषता नहीं दिखती थी। वे बहुत साधारण भाषा का प्रयोग करते थे। उस समय मेरे मन में यह प्रश्न उठा – "क्या यह व्यक्ति वास्तव में महान् ज्ञानी है?' मैं धीरे से खिसककर उनके पास गया और उनके सामने वही प्रश्न रख दिया, जो मैं अन्य सभी से पूछा करता था – "महाराज, क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया – "हाँ।" मैंने कहा – "क्या आप उन्हें सिद्ध करके दिखा सकते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया – 'हाँ।" मैंने कहा – "कैसे?" उन्होंने उत्तर दिया – "यहाँ जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ, वैसे ही मैं ईश्वर को देखता हूँ – बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।" इस उत्तर का मेरे मन पर तत्काल असर हुआ, क्योंकि जीवन में मुझे पहली बार ऐसा व्यक्ति मिला था, जिसने तत्काल कह दिया कि उसने ईश्वर को देखा है, जिसने यह भी बताया कि धर्म एक वास्तविक सत्य है और जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा विश्व का अनुभव करते हैं, उससे कहीं अधिक स्पष्ट रूप से उसका अनुभव किया जा सकता है। मैं दिन-पर-दिन उनके पास जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया कि धर्म भी दूसरे को दिया जा सकता है, केवल एक ही स्पर्श तथा एक ही दृष्टि में सारा जीवन बदला जा सकता है। ... इन महापुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन करने के बाद मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गयी।[२८]

अपने गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर मैंने जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिये अभिशाप या निन्दा के वचन नहीं निकले। उनकी आँखें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे। उन्हें जो कुछ दिखा, वह अच्छा ही दिखा। यह महान् पवित्रता तथा महान् त्याग ही आध्यात्मिक जीवन का रहस्य हैं।[२९]

त्याग के बिना महान् आध्यात्मिकता कैसे प्राप्त हो सकती है? त्याग ही सभी प्रकार के धर्मभावों की पृष्ठभूमि है और तुम यह सदैव देखोगे कि जैसे-जैसे त्याग का भाव क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी परिमाण में आध्यात्मिकता का ह्रास होता जाता है।

मेरे गुरुदेव त्याग की साकार मूर्ति थे। हमारे देश में संन्यासी होनेवाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक होता है कि वह सारी सांसारिक सम्पत्ति तथा सामाजिक स्थिति का परित्याग कर दे और मेरे गुरुदेव ने इस सिद्धान्त का अक्षरश: पालन किया। ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनसे मेरे गुरुदेव यदि कोई भेंट ग्रहण कर लेते, तो वे अपने को धन्य मानते; और यदि वे स्वीकार करते, तो वे लोग उन्हें हजारों रुपये देने को प्रस्तुत थे, परन्तु मेरे गुरुदेव ऐसे प्रलोभनों से दूर भागते थे। काम-कांचन पर पूर्ण विजय के वे जीवन्त तथा ज्वलन्त उदाहरण थे। इन दोनों भावनाओं का उनमें पूर्ण अभाव था और इस शताब्दी के लिये ऐसे ही व्यक्तियों की नितान्त आवश्यकता है।[३०]

पश्चिम में हम प्राय: नारीपूजा की बात सुनते हैं, परन्तु यह पूजा प्राय: उसके तारुण्य तथा लावण्य के कारण होती है। परन्तु मेरे गुरुदेव के स्त्री-पूजन का भाव यह था कि प्रत्येक स्त्री का मुखारविन्द उन आनन्दमयी जगदम्बा का ही मुखारविन्द है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि मेरे गुरुदेव उन स्त्रियों के चरणों में गिर पड़ते, जिनको समाज स्पर्श तक नहीं करता था और उन स्त्रियों से भी वे रोते हुए यही कहते, "हे जगदम्बे, एक रूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे रूप में तुम विश्वव्यापिनी हो। तुम्हें प्रणाम करता हूँ, माँ, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" सोचकर देखो, उनका जीवन कैसा धन्य है,

---

* उन दिनों कोलकाता ही भारत की राजधानी थी। बाद में अंग्रेजों ने ही राजधानी को दिल्ली स्थानान्तरित कर दिया।

जिनका काम-भाव पूर्णत: नष्ट हो गया है, जो प्रत्येक नारी का भक्ति-भाव से दर्शन कर रहे हैं और जिनके लिये प्रत्येक नारी के मुख ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया है, जिसमें साक्षात् आनन्दमयी भगवती जगद्धात्री का मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है ! ... यदि आध्यात्मिकता अर्जित करनी हो, तो ऐसी पवित्रता अति आवश्यक है ।[३१]

मेरे गुरुदेव के जीवन का दूसरा तत्त्व दूसरों के प्रति अगाध प्रेम था। उनके जीवन का प्रारम्भिक भाग धर्म के उपार्जन में लगा रहा तथा अन्तिम भाग उसके वितरण में। ... झुण्ड-के-झुण्ड लोग मेरे गुरुदेव के श्रीवचन सुनने आते और वे चौबीस घण्टों में से बीस घण्टे तक उनके साथ बातें करते रहते; और वह भी कोई एक दिन नहीं, बल्कि महीनों तक यही क्रम जारी रहा। इसका फल यह हुआ कि अत्यन्त परिश्रम के कारण अन्त में उनका शरीर टूट गया। उनका मानव-जाति के प्रति इतना अगाध प्रेम था कि उनके पास कृपा पाने आनेवाले हजारों में से अति साधारण व्यक्ति भी उस कृपा-लाभ से वंचित नहीं रहता था। इसके फल-स्वरूप धीरे-धीरे उनके गले में एक बड़ा भयंकर रोग हो गया। परन्तु बहुत आग्रह करने के बावजूद वे इस परिश्रम से विरत नहीं होते थे। जैसे ही वे सुनते कि उनसे मिलने के इच्छुक लोग आये हुए हैं, तो वे उन्हें अन्दर बुलाये बिना नहीं मानते और उनके सब प्रश्नों का उत्तर देते। किसी के समझाने का प्रयास करने पर उन्होंने कहा था – "मैं परवाह नहीं करता। यदि एक मनुष्य की भी सहायता हो सके, तो मैं ऐसे हजारों शरीर छोड़ने को तैयार हूँ। एक व्यक्ति की सहायता कर पाना भी गौरव की बात है ।[३२]

यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है, तो वह उन्हीं का – केवल उन्हीं का वाक्य है; परन्तु यदि मैंने ऐसे वाक्य कहे हों, जो असत्य, भ्रामक या मानव-जाति के लिये हितकर न हों, तो वे सब मेरे ही वाक्य हैं और उनका पूरा उत्तरदायी मेरे ऊपर है ।[३३]

किसी राष्ट्र की उन्नति के लिये उसके पास एक आदर्श होना आवश्यक है। वस्तुत: वह आदर्श है – निर्गुण ब्रह्म। लेकिन चूंकि तुम लोग किसी निराकार आदर्श से प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकते, इसलिये तुम्हें साकार आदर्श चाहिये। वह तुम्हें श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व के रूप में मिला है। अन्य व्यक्ति अब हमारे आदर्श क्यों नहीं बन सकते, इसका कारण यह है कि उनके दिन बीत चुके हैं और वेदान्त को सबके लिये सुलभ बनाने के लिये निश्चय ही ऐसा व्यक्ति चाहिये, जिसकी सहानुभूति वर्तमान पीढ़ी से हो। श्रीरामकृष्ण से इसकी परिपूर्ति होती है। अत: अब तुम्हें चाहिये कि उनको सबके समक्ष रखो। चाहे कोई उन्हें साधु माने या अवतार, इससे कोई फरक नहीं पड़ता ।[३४]

ईश्वर यद्यपि सर्वत्र हैं, तो भी हम उन्हें केवल मनुष्य चरित्र के माध्यम से ही जान सकते हैं। श्रीरामकृष्ण के जैसा पूर्ण-चरित्र पहले कभी कोई नहीं हुआ, इसलिये हमें उन्हीं को केन्द्र बनाकर संगठित होना पड़ेगा। हाँ, हर व्यक्ति उन्हें अपनी-अपनी भावना के अनुसार स्वीकार करे – जो जैसा चाहे, उन्हें माने – ईश्वर, परित्राता, आचार्य, आदर्श मनुष्य अथवा एक महापुरुष ।[३५]

संकीर्ण समाज में आध्यात्मिकता प्रबल और गम्भीर होती है – जैसे सँकरी नदी में प्रवाह अधिक होता है। उदार समाज में एक ओर दृष्टिकोण का विस्तार होने के बावजूद उसी अनुपात में गम्भीरता तथा तीव्रता की कमी दिखाई देती है। परन्तु श्रीरामकृष्ण का जीवन इतिहास के इस नियम का अपवाद है। यह एक अभूतपूर्व घटना है कि श्रीरामकृष्ण का जीवन एक ही आधार में समुद्र से भी गम्भीर और आकाश से भी विस्तृत भावों का सम्मिलन है।

हमें श्रीरामकृष्ण की अनुभूतियों के आलोक में वेदों की व्याख्या करनी होगी। ... प्राचीन काल में गीता के प्रवक्ता भगवान श्रीकृष्ण ने (वेदों के) इन आपात् विरोधी उक्तियों के बीच आंशिक रूप से सामंजस्य स्थापित किया था। काल के अन्तराल में काफी विराट् रूप धारण कर चुके, उसी विवाद को पूरी तौर से हल करने के निमित्त वे स्वयं श्रीरामकृष्ण के रूप में आये हैं। उन्होंने पहले अपने जीवन में रूपायित करके और तदुपरान्त अपने उपदेशों द्वारा यह बताया कि आपात् दृष्टि से परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाली शास्त्रों की ये उक्तियाँ विभिन्न स्तरों के साधकों के लिये उपयोगी हैं और उनके विकास का क्रम प्रदर्शित करती हैं। अत: श्रीरामकृष्ण की उक्तियों के आलोक में ही वेद-वेदान्त के यथार्थ तात्पर्य को समझा जा सकता है। ...

श्रीरामकृष्ण ने हमें काम-कांचन-त्याग के समान सावधानी के साथ कोई चीज छोड़ने को कहा है, तो वह है – ईश्वर के असीम भावों को अपने दायरे में सीमाबद्ध करना। ...

ऐसा अभूतपूर्व व्यक्तित्व, ज्ञान-योग-भक्ति तथा कर्म का ऐसा अद्भुत सामंजस्य – मानव-जाति ने इसके पहले कभी नहीं देखा। श्रीरामकृष्ण का जीवन यह सिद्ध करता है कि महानतम विस्तार, सर्वोच्च उदारता तथा परम तीव्रता – एक ही व्यक्ति में एक साथ निवास कर सकती हैं और इसी प्रकार के समाज का भी गठन हो सकता है, क्योंकि समाज भी तो व्यक्तियों का ही एक समूह मात्र है।

वही व्यक्ति श्रीरामकृष्ण का यथार्थ शिष्य तथा अनुयायी है, जिसका चरित्र उन्हीं के समान आदर्श तथा सर्वांग-पूर्ण है। ऐसे पूर्ण चरित्र का निर्माण ही इस युग का आदर्श है। हर व्यक्ति को केवल इसी के लिये प्रयास करना चाहिये ।[३६]

इसलिये मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि श्रीरामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, सबके लिये वैसी अहैतुकी दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीवों के लिये वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति – संसार में अन्यत्र कहीं भी नहीं है।[३७]

पहले रामकृष्ण परमहंस का अध्ययन किये बिना वेद, वेदान्त, भागवत तथा अन्य पुराणों का तात्पर्य समझना असम्भव है। उनका जीवन, भारत की सम्पूर्ण धार्मिक विचार-राशि को आलोकित करनेवाला एक अनन्त शक्तिशाली सर्चलाइट है। वे वेदों तथा उनके लक्ष्य के जीवित भाष्य थे। अपने एक जीवन काल के दौरान वे भारत के राष्ट्रीय धार्मिक अस्तित्व का एक पूरा कल्प ही बिता गये।[३८]

रामकृष्ण परमहंस सबसे आधुनिक हैं और सबसे पूर्ण हैं – ज्ञान, प्रेम, त्याग, उदारता और लोकहित-कामना के वे मूर्तिमान स्वरूप हैं। अत: कौन है, जिसके साथ उनकी तुलना की जा सके? जो उन्हें समझ नहीं सकता, उसका जीवन व्यर्थ है। मेरा परम सौभाग्य है कि मैं उनका जन्म-जन्मान्तर का दास हूँ। उनकी एक उक्ति भी मेरे लिये वेद-वेदान्त से अधिक मूल्यवान है। **तस्य दास-दास-दासोऽहम्** – मैं उनके दासों-के-दासों का दास हूँ! परन्तु एकांगी कट्टरता से उनकी भावधारा में अवरोध आता है, उसी से मैं चिढ़ता हूँ। भले ही उनका नाम डूब जाय, परन्तु उनकी शिक्षा फलप्रसू होनी चाहिये। क्या वे नाम के दास थे?[३९]

जिस दिन श्रीरामकृष्ण देव ने जन्म लिया है, उसी दिन से आधुनिक भारत तथा सत्युग का आविर्भाव हुआ है।[४०]

श्रीरामकृष्ण-अवतार में ज्ञान, भक्ति तथा प्रेम – तीनों ही विद्यमान हैं। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम, अनन्त कर्म तथा प्राणियों के लिये अनन्त दया है। अभी तक तुम्हें इसका अनुभव नहीं हुआ है। ... युग-युग से समग्र हिन्दू जाति के लिये जो चिन्तन का विषय रहा, उसकी उन्होंने अपने एक ही जीवन में उपलब्धि की। उनका जीवन सभी देशों के धर्म-शास्त्रों का सजीव भाष्य-स्वरूप है।[४१]

भारत चिर काल से दु:ख भोगता आया है; सनातन धर्म दीर्घ काल से अत्याचार सहता रहा है। परन्तु ईश्वर दयामय हैं। अपनी सन्तानों के परित्राण हेतु वे एक बार फिर आये हैं; पतित भारत को एक बार फिर उठने का सुयोग मिला है। श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठने से ही भारत का उत्थान हो सकता है। उनकी जीवनी तथा शिक्षाओं को चारों ओर फैलाना होगा, उन्हें हिन्दू समाज के रोम-रोम में भरना होगा। यह कौन करेगा? श्रीरामकृष्ण की पताका हाथ में लेकर संसार के उद्धार हेतु कौन अभियान करेगा? कौन है, जो नाम-यश, भोग-ऐश्वर्य और यहाँ तक कि इहलोक तथा परलोक की सारी आशाओं का बलिदान करके अवनति की इस बाढ़ को रोकने हेतु अग्रसर होगा?... वह धन्य है, जिसे प्रभु ने चुन लिया है।[४२]

जगत् के कल्याण हेतु ही परमहंस श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ था। तुम अपनी-अपनी भावना के अनुसार उनको मनुष्य, ईश्वर, अवतार – जो कुछ भी कहना चाहो – कह सकते हो। जो कोई उनको प्रणाम करेगा, वह तत्काल ही स्वर्ण बन जाएगा। वत्स, इस सन्देश को लेकर तुम घर-घर जाओ – देखोगे कि तुम्हारी सारी अशान्ति दूर हो गयी है।[४३]

हमें समाज में – संसार में, चेतना का संचार करना होगा। बैठे-बैठे गप्पें लड़ाने और घण्टा हिलाने से काम नहीं चलेगा। ... आध्यात्मिकता की बड़ी भारी तरंग आ रही है – साधारण व्यक्ति महान् बन जाएँगे, अनपढ़ व्यक्ति उनकी कृपा से बड़े-बड़े पण्डितों के आचार्य बन जाएँगे – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** – 'उठो, जागो और जब तक लक्ष्य तक न पहुँच जाओ, रुको नहीं।' निरन्तर विस्तार करना ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। जो व्यक्ति अपना ही स्वार्थ देखता है, आराम-तलब और आलसी है, उसके लिये नरक में भी जगह नहीं है। जिसमें जीवों के लिये इतनी करुणा है कि वह खुद उनके लिये नरक में भी जाने को तैयार रहता है, उनके लिये कुछ भी उठा नहीं रखता – वही श्रीरामकृष्ण का पुत्र है, **इतरे कृपणाः** – दूसरे तो हीन बुद्धि वाले हैं। इस आध्यात्मिक जागृति के सन्धि-काल में जो कोई भी कमर कसकर खड़ा हो जाएगा; गाँव-गाँव, तथा घर-घर में उनका संवाद देता फिरेगा, वही मेरा भाई है – वही 'उनका' पुत्र है। यही कसौटी है – जो रामकृष्ण के पुत्र हैं, वे अपना भला नहीं चाहते, वे प्राण चले जाने पर भी दूसरों का भला चाहते हैं – **प्राणात्ययेऽपि परकल्याण-चिकीर्षवः** ।[४४]

मैं जो कुछ हुआ हूँ, सारी दुनिया भविष्य में जो कुछ बनेगी, उन सबके मूल में हैं मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण।[४५]

❖ **(क्रमशः)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

२८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. २५९-६०; **२९.** वही, खण्ड ७, पृ. २६४; **३०**. वही, खण्ड ७, पृ. २६४; **३१**. वही, खण्ड ७, पृ. २५६-५७; **३२.** वही, खण्ड ७, पृ. २६५; **३३.** वही, खण्ड ५, पृ. १६२; **३४.** वही, खण्ड ७, पृ. २७१; **३५.** वही, खण्ड २, पृ. ३२६; **३६.** Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ७, पृ. ४११-१२ (सं. १९७९); **३७.** वही, खण्ड १, पृ. ३६५; **३८** तथा **३९.** वही, खण्ड २, पृ. ३६०; **४०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३०९; **४१.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१०; **४२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३७-३८; **४३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०१; **४४.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५५-५६; **४५.** वही, खण्ड १०, पृ. २१८

मैत्रीभाव का तत्त्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

एक बार किसी महिला ने श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री माँ सारदा से पूछा था, "माँ, हमें शान्ति कैसे मिले?" और माँ ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था, "यदि शान्ति पाना चाहती हो, बेटी, तो किसी के दोष न देखना, दोष देखना अपना। कोई पराया नहीं है, बेटी, सब अपने हैं। सबको अपना बना लेना सीखो।"

यही मैत्रीभाव का सूत्र है। हममें अपने और पराये का भाव जन्मजात है। इसे संस्कार और चिन्ता के द्वारा बदलने की चेष्टा करनी होगी। एक घर के ही विभिन्न सदस्यों में भेद इस अपने-पराये की बुद्धि से उत्पन्न होता है और काल में पल्लवित होकर घर को ही फोड़ डालता है। एक माता जब भोजन परसती है, तो अपने लड़के की रोटी में अधिक घी चुपड़ देती है, भतीजे या भान्जे की रोटी में कम। अपने पति की दाल वाली कटोरी में पत्नी अधिक घी डाल देगी, जबकि अपने देवर के लिए कम। ये उदाहरण इसलिए दिये गये कि छोटी छोटी बातें हमारी मनोवृत्ति को उजागर करती हैं। यह ऐसी मनोवृत्ति है, जो मैत्रीभाव की जड़ पर ही कुठाराघात करती है। इससे अपने-पराये का भाव और पुख्ता हो जाता है। यह अन्ततोगत्वा घर के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। उसकी परिणति आपसी कलह और वैमनस्य में होती है।

जैसे यह एक घर के लिए सत्य है, वैसे ही समाज के लिए भी। हम समाज को जोड़ने का दावा तो करते हैं, पर घर को ही नहीं जोड़ पाते। हम एक ओर कहते हैं कि मनोवृत्ति को उदार बनाओ, पर दूसरी ओर हम स्वयं ही संकीर्णता के शिकार बने रहते हैं। संस्कृत में एक सुभाषित हैं, जिसमें कहा गया है –

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

– अर्थात् "यह मेरा है, यह उसका – ऐसी बुद्धि ओछे हृदयवाले की होती है, पर जो उदारहृदय हैं, उनके लिए तो यह सारी वसुधा ही कुटुम्ब है।" अब, यह बात कहने और सुनने में अच्छी तो लगती है, पर प्रश्न यह है कि क्या हम इस पर अमल करने के लिए कभी प्रयत्नशील होते हैं?

हम तो अत्यन्त नगण्य बातों के लिए भी 'तू-तू' 'मैं-मैं' करते हैं, इसलिए हमारे मुँह से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली बात शोभा नहीं देती।

एक मजेदार घटना का स्मरण हो आता है। मेरे मित्र रेल से कहीं जा रहे थे। डिब्बे में बड़ी भीड़ थी। पहले तो उन्हें चढ़ने ही नहीं दिया जा रहा था, पर जब किसी प्रकार चढ़ गये, तो बैठने की कोई गुंजाइश नहीं दिखी। उधर एक व्यक्ति पूरी सीट पर दरी बिछाये सो रहा था। हमारे ये मित्र उस सोने वाले के पैर हटाकर बैठ गये। फिर क्या था, महाभारत मच गया। जब थोड़ा थमा, तो सामने वाले व्यक्ति से हमारे मित्र की चर्चा होने लगी। परस्पर परिचय दिया गया। हुआ यह कि हमारे मित्र उस सोने वाले व्यक्ति के साढ़ू के चचेरे भाई निकले। अब क्या था, सोने वाले व्यक्ति उठ खड़े हुए, हमारे मित्र से माफी माँगी और उन्हें अच्छी तरह से तो बिठाया ही, रास्ते भर तरह-तरह की चीजें खिलाते चले।

इस घटना के वर्णन का उद्देश्य यह है कि यदि एक अनजान व्यक्ति के प्रति ममत्व का कोई रेशा निकल आये, तो हमारा परायापन कपूर की तरह उड़ जाता है और हमारे हृदय की संकुचित भावना तिरोहित हो जाती है। यदि हम प्रयत्नपूर्वक इस ममत्व का विस्तार संसार में सबके प्रति कर सकें, तो इससे मैत्री भाव दृढ़ होता है और आपसी कलह का शमन होता है। उसी एक ईश्वर के उपजाये होने से हममें परस्पर भ्रातृभाव होना चाहिए, यदि ऐसी मनोवृत्ति को हम चेष्टा करके अपने भीतर दृढ़मूल कर सकें, तो शान्ति पाने की दिशा में हम एक सार्थक कदम धरते हैं।

हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों में निर्वैर की बड़ी महिमा गायी गयी है। वैर मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। उसका शमन मैत्रीभाव से ही हो सकता है। भगवान बुद्ध का उपदेश इस सन्दर्भ में मननीय है –

न वेरेण वेराणि समन्तीध कुदाचन।
अवेरेण हि समन्तीध एष धम्म सनत्तन।।

– अर्थात् वैर द्वारा वैरभाव दूर नही होता; अवैर यानि मैत्री-भाव द्वारा ही वह सम्पन्न होता है – यही सनातन धर्म है।

नाम की महिमा (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

विश्वमोहिनी के प्रसंग में नारदजी ने पहले तो भगवान से शिकायत के स्वर में कहा – आपने मेरी कैसी हँसी करायी, कैसी दुर्दशा करायी ! परन्तु जब उनकी आँखें बदल गयीं, दृष्टि बदल गई, तो कहने लगे – प्रभो, आपने कितनी कृपा की कि मुझे बचा लिया। विश्वमोहिनी तो आपकी माया थी, जो किसी अन्य को नहीं, बल्कि केवल आपको ही मिलने वाली थी। स्वयंवर सभा में तीन दिशाओं में बैठे हुए लोग तो आपकी माया के चक्र में पड़े हुए थे – जब माया सामने आती थी, तो उन्हें लगता था कि जयमाल शायद मेरे गले में पड़ेगा और जब चली गई, तो फिर निराशा हो गई। परन्तु चौथी दिशा में जो नारद के साथ बैठे हुए थे, उनके सामने तो माया आई ही नहीं, माया उधर गई ही नहीं।

शंकरजी बोले – "महाराज, इसी से मैं समझ गया कि बन्दर बन जाने से माया दूर भागती है, सामने नहीं आती, इसीलिए मैंने बन्दर की आकृति ही स्वीकार की।" हनुमानजी के रूप में तो उनको बन्दर ही कहते हैं। मन का एक रूप वहाँ भी है। बन्दर का स्वरूप होते हुए भी हनुमानजी का मन अत्यन्त विलक्षण है – उसमें दिव्य रस, दिव्य भक्ति तथा दिव्य ज्ञान है और अन्त:करण परिपूर्ण है।

दूसरी ओर कामदेव-रूपी मन पर यदि ईश्वर को बैठाएँ और ईश्वर ही काम को अपने संकेत पर नचायें, तो क्या होगा? गोस्वामीजी कहते हैं – मानो कामदेव ही श्रीराम के लिए घोड़े का वेष बनाकर अति शोभित हो रहा है। वह अपनी आयु, बल, रूप, गुण तथा चाल से सभी लोकों को मोहित कर रहा है। सुन्दर घुँघरू लगे उसके सुन्दर लगाम को देखकर देवता, नर, मुनि सब ठगे-से रह जाते हैं –

जनु बाजि बेषु बनाइ मनसिजु
राम हित अति सोहई ।
आपनें बय बल रूप गुन गति
सकल भुवन बिमोहई ।।
जगमगत जीनु जराव जोति
सुमोति मनि मानिक लगे ।
किंकिनि ललाम लगामु ललित
बिलोकि सुर नर मुनि ठगे ।। १/३१६/छं.

घोड़े के ऊपर यह जो कोमल मखमली आसन बनाया गया है, जिसमें हीरे मोती जड़े हुए हैं, यह क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि चंचल कामयुक्त मन के भीतर कोमलता भी है, सौन्दर्य भी है और भाव भी है। इस घोड़े के दिव्य मणिमय आसन पर भगवान बैठे हुए अपने नियंत्रित मर्यादा के लगाम को धारण किए हुए हैं और कामदेव घोड़े के रूप में नाच रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं – ऐसा लगता है कि भगवान उस घोड़े को नचाकर वशीभूत किए हुए हैं –

जनु बर बरहि नचाव ... ।। १/३१६ दो.

सबको नचानेवाला काम भगवान के संकेत पर नाच रहा है। भगवान यदि मन पर सवार हैं और वह यदि प्रसन्नतापूर्वक भक्ति-रूपी सीताजी की दिशा में जा रहा है; तो ऐसे मन को मिटाने की जरूरत नहीं। इसीलिए अश्व पर आरूढ़ भगवान श्रीराम को देखकर शंकरजी भी धन्यता का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार एक तो हनुमानजी के रूप में सिद्ध मन है। जिनका मन सिद्ध मन है, उनके लिए तो चिन्ता की बात ही नहीं है। दूसरा साधक मन है, जहाँ नियंत्रित काम है। उसमें चंचलता तो है, पर उसका नियंत्रण भगवान के हाथ में दे दिया गया है। जिनके मन की बागडोर भगवान ने सँभाल ली है, वे भी बिल्कुल ठीक हैं। पर हम लोगों का मन तो इससे भी नीचे है। सबसे अधिक विषयी यही निम्न कोटि का तथा दोषयुक्त मन है, उसका प्रतीक मारीच है। इसी की समस्या सबसे जटिल है। इस दोषयुक्त मन को कैसे बदला जाय !

यहाँ पहला संकेत यह है कि मारीच यज्ञ का विरोधी है और हमारे मन के साथ भी यही बात है। आप किसी भी तरह का यज्ञ या सत्कर्म कीजिए, चंचल मन उसमें बाधा डाल देता है। वर्णन आता है कि मारीच आकर यज्ञ में हड्डी, रक्त, मांस तथा गन्दी चीजों की वर्षा करके उसे नष्ट कर देता था। जब हम साधना करने – पूजा-जप या यज्ञ करने बैठते हैं, तो देखते हैं कि मन-रूपी मारीच वही काम कर रहा है। हमारे जीवन में साधना या यज्ञ का जो स्वरूप है, उसमें हम अपने मन से ईश्वर का और अच्छी वस्तुओं का चिन्तन करना चाहते हैं, परन्तु मन कहीं अन्यत्र चला जाता है और अपवित्र वस्तुओं तथा भावों का चिन्तन करने लगता है; मन ध्यान को

हड्डी-रक्त-मांस के रूप में शरीर की ओर ले जाता है, भौतिक आकर्षण की ओर ले जाता है। मन जिस शरीर का ही चिन्तन करने लगता है, वही तो हड्डी-रक्त-मांस का ढेर है और यही मारीच द्वारा की जानेवाली हड्डी-रक्त-मांस की वर्षा है। इस मन की समस्या का समाधान गोस्वामीजी इसे सूत्र के रूप में बताते हैं – भगवान श्रीराम ने सबसे पहले मारीच के ऊपर बिना फल के बाण का प्रयोग किया –

बिनु फर बान राम तेहि मारा ।। १/२१०/४

हमें भी यही करना है। जितना भी राम-नाम का जप करें, वह बिना फल की आकांक्षा के करें, तभी तो मन पर विजय प्राप्त होगी। बहुधा हम किसी सांसारिक पदार्थ पाने की आकांक्षा लेकर जप-तप किया करते हैं, इसीलिये हमारे मन के मारीच की समस्या का समाधान नहीं हो पाता।

भगवान राम द्वारा मारीच पर और श्रीभरत द्वारा हनुमानजी पर बिना फल के बाण का प्रयोग होता है। श्रीभरत का अन्त:करण आकांक्षारहित है और भगवान मानो मन को शुद्ध करने की साधना का श्रीगणेश यहीं से करते हैं – हम अपने मन में कम-से-कम यह निर्णय करें कि हम जप या साधना करते हुए भगवान से कोई फल पाने की आकांक्षा छोड़कर, केवल मन की शुद्धि के लिए ही उसका प्रयोग करेंगे।

गोस्वामीजी ज्ञानदीपक के प्रसंग में कहते हैं कि श्रद्धा की गाय है, सत्कर्म का चारा है और विश्वास का बर्तन है –

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई ।।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा ।
जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा ।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई ।
भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ।। ७/११७/९-११

पहले यह परम्परा थी कि गाय को दूहने के पहले गाय के पिछले दोनों पैर एक पतली रस्सी से बाँध दिये जाते थे। उसे नोई कहते थे। गाँवों में प्रचलित था। मैंने अपने बचपन में देखा है। उसको पवित्रता का भी एक स्वरूप माना जाता था। इसे हम व्यावहारिक अर्थों में देखें, तो कई बार दूध दूहते समय गाय पैर चला देती है और जो व्यक्ति पात्र लेकर दूहने के लिए गाय के पिछले पैरों के पास बैठा हुआ है, उसे यह भय बना रहता है कि यदि वह गाय का पैर बरतन को लग जाय, तो बरतन गिर जाय और दूध बह जाय। तो दूध को बचाने के लिए नोई के रस्सी के द्वारा गाय का पैर बाँधा जाता है। भौतिक प्रयोजन में इसका अर्थ इतना ही है।

पर गोस्वामीजी ने कहा कि भौतिक गाय के पैरों को चाहे आप रस्सी से न भी बाँधें, लेकिन जब आप साधना करने चलें, श्रद्धा की गाय को सत्कर्म का चारा खिलायें और उसके बाद जब उससे दूध लेना चाहें, तो उसके दोनों पैर रस्सी से अवश्य बाँध दें। वह रस्सी क्या है? – 'निवृत्ति' की रस्सी से श्रद्धा-रूपी गाय के दोनों पैर बाँध दीजिए –

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा ।
निर्मल मन अहीर निज दासा ।। ७/११७/१२

बहुत बढ़िया बात है। श्रद्धा, सत्कर्म और सारी क्रियाओं का उद्देश्य यदि प्रवृत्ति की ओर जायेगा, सब कुछ करते हुए भी यदि हम अपनी श्रद्धा तथा अपने सत्कर्म का प्रयोग प्रवृत्ति में करेंगे, तो जैसे गाय का पिछला पैर दूध को गिरा दे, वैसे ही उससे हमें जो दूध प्राप्त होना चाहिए, वह दूध हमें नहीं प्राप्त होगा और ज्ञान का दीपक भी नहीं जलेगा।

हममें से अधिकांश श्रद्धालु साधना तो करते हैं, पर हम निवृत्ति – निष्कामता की रस्सी से श्रद्धा-रूपी गाय के पैर बाँधने की चेष्टा नहीं करते। जब हम श्रद्धा के द्वारा किसी भौतिक कामना की पूर्ति चाहते हैं, तो हमारी वह कामना तो पूर्ण हो सकती है, पर वस्तुत: हमें परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होगा। श्रद्धा की गाय के पिछले पैरों में नोई की रस्सी बाँधने का सूत्र ज्ञान-दीपक-प्रसंग में दिया गया है।

साधना में भी – नाम-जप कर रहे हैं, पर मन शुद्ध नहीं हो रहा है। नाम-जप कर रहे हैं, पर बुद्धि पवित्र नहीं हो रही है, तो सम्भव है कि हम जो नाम-जप कर रहे है, वह कहीं किसी कामना-पूर्ति के लिए तो नहीं कर रहे हैं! बल्कि कभी-कभी तो लोग मंत्रशास्त्र पढ़ लेते हैं और मंत्रशास्त्र में पाँच प्रयोग लिखे हुए हैं। उन पाँच प्रयोगों के बड़े विचित्र नाम है – मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, वशीकरण। लोगों के मन में इनके विषय में बड़ी भयानक धारणाएँ हैं। कई लोग तो मंत्र सिद्ध करने की बड़ी चेष्टा करते हैं। किसी सज्जन ने कहा – यदि यह करने योग्य नहीं है, तो शास्त्रों में लिखा ही क्यों है? मैंने कहा – आपने यह क्यों मान लिया कि यह मारण-मंत्र किसी शत्रु पर प्रयोग करने के लिए ही है। अपने हृदय के विकारों को मारने के लिए भी तो मारण-मंत्र का प्रयोग हो सकता है। आप मारण-मंत्र का अर्थ इस रूप में क्यों नहीं लेते? वशीकरण-मंत्र है, तो किसी व्यक्ति को वश में करने के लिए उसका जप करें, उसके स्थान पर भगवान को वश में करने के लिए क्यों न वशीकरण-मंत्र का जप करें? मंत्र के द्वारा यदि स्तम्भन का प्रयोग करना है, तो क्यों न मन का ही स्तम्भन कर दिया जाय? और यदि मंत्र द्वारा उच्चाटन का प्रयोग करना है, तो क्यों न उससे मन को विषयों की ओर से उचाट किया जाय?

इस प्रकार अर्थ लेने में आप स्वतंत्र हैं। मंत्र के बड़े विचित्र-विचित्र प्रयोग लोगों को ज्ञात हैं। हम इस मंत्र का जप करेंगे, तो हमारा शत्रु मर जायेगा; ऐसा कर देंगे, तो कोई व्यक्ति हमारे वशीभूत हो जायेगा, आदि आदि। परन्तु आप देखेंगे कि जो लोग इस प्रकार उसका प्रयोग करते हैं,

शास्त्रों में उनकी निन्दा की गई है। बिजली की शक्ति तो प्रकाश के लिए है, परन्तु यदि आप उसका कोई तार खुला रखकर किसी के शरीर से ऐसा छुलाने की चेष्टा करें कि वह मर जाय, तब तो आपने बिजली का सदुपयोग नहीं किया। इस प्रकार किसी को तलवार से न मारकर बिजली से मारेंगे, तो क्या यह कहकर सजा से बच जाएँगे कि मैंने किसी तलवार से सिर थोड़े ही काटा या पिस्तौल से थोड़े ही मारा? तो मंत्र के द्वारा भी यदि हम तुच्छ सांसारिक वस्तुओं के लिये अनिष्टकारी प्रयोग करेंगे, किसी को मारने के लिए प्रयोग करेंगे, तो भले ही उसमें तात्कालिक सफलता की अनुभूति हो, पर इससे मन के शान्त होने में, मन के वशीभूत होने में, ईश्वर की प्राप्ति होने में कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी।

सबसे पहले श्रीगणेश यही है कि मन को किसी प्रकार से फलाकांक्षा से रहित किया जाय। भगवान राम ने अपनी ओर से बिना फल के बाण का प्रयोग किया और इसका उद्देश्य यह था कि मन में परिवर्तन कैसे हो? और वह हुआ। बिना फल के बाण का बड़ा अद्भुत चमत्कार हुआ। हनुमानजी के सन्दर्भ में बिना फल के बाण का बड़ा महत्त्व है, लेकिन वह दिव्य मन है। वहाँ पर बिना फल के बाण का प्रयोग श्रीभरत के द्वारा उसका एक भिन्न रूप है। और यहाँ? मारीच के ऊपर जब बिना फल के बाण का प्रयोग हुआ, तो कैसा विलक्षण चमत्कार हुआ! कैसा परिवर्तन हुआ! ऐसा लगा मानो भगवान ने बिना फल के बाण से मारीच को कहीं दूर फेंक दिया। परन्तु शरीर और मन के सन्दर्भ का अन्तर यही है। शरीर के सन्दर्भ में पास तभी मानेंगे, जब दो व्यक्ति पास-पास बैठे हों, पर मन के सन्दर्भ में ऐसा नियम बिल्कुल नहीं है। दो व्यक्ति बिलकुल पास-पास बैठे हों, पर सम्भव है कि दोनों के मन में बड़ी दूरी हो। आप शरीर से कहीं बैठे हों, पर हो सकता है कि आपका मन न जाने कितनी दूर हो।

वह प्रसिद्ध गाथा आपने सुनी होगी। दो मित्र जा रहे थे। मार्ग में कथा का आयोजन दिखाई दिया, तो एक ने कहा – आओ, कथा में चलें। दूसरे ने कहा – नहीं भाई, मैं नहीं जाऊँगा, मैं तो घर जाकर आनन्द से लेटूँगा। एक मित्र कथा में चला गया और दूसरा मित्र घर पहुँच गया। लेकिन जो कथा में पहुँच गया, कथा उसकी समझ में ही नहीं आ रही थी, वह ऊँघने लगा। उसे यह संकोच भी हो रहा था कि बीच में उठकर कैसे जायँ, लोग न जाने क्या समझें और आलोचना करने लगें। कथा सुनना तो उसने भुला दिया, सोचने लगा – इस समय मित्र पलंग पर लेटा हुआ अपनी पत्नी के साथ मीठी-मीठी बातें कर रहा होगा, या फिर बच्चों के साथ खेल रहा होगा। वह कथा में बैठा हुआ यही कार्य कर रहा था। उधर दूसरा मित्र घर गया और घर पहुँचते ही उसका पत्नी से झगड़ा हो गया। वह बेचारा घर में सिर पिटता हुआ सोचने लगा – हमारा मित्र कथा में भगवान की कथा और चर्चा सुन रहा होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जो शरीर से घर बैठा है, वह मन से कथा में पहुँच गया और जो शरीर से कथा में बैठा हुआ है, वह मन से घर में – पत्नी, बच्चों तथा भौतिक आकर्षण के बीच पहुँच गया।

तो भगवान ने बिना फल के बाण से मन-मारीच पर जो प्रहार किया, उसका प्रभाव उसके जीवन पर सचमुच ही अद्भुत पड़ा। मारीच पूरी तौर से बदल गया। उसके स्वभाव में चंचलता थी। भगवान ने कहा – तुम चंचल हो, तो हमारा बाण उससे भी अधिक तीव्र गतिवाला और शक्तिशाली है। यह ईश्वर के संकल्प का बाण है। भगवान का बाण लगने पर मारीच जब समुद्र के किनारे गिरता है, तो विचित्र बात हुई – जब वह यज्ञस्थल में था, तो श्रीराम के पास तथा रावण से दूर था, क्योंकि रावण की आज्ञा से ही वहाँ से यहाँ आया था; परन्तु जब भगवान का बाण लगा और वह समुद्र के किनारे गिरा, तो शरीर से रावण के पास पहुँचा, लेकिन मन से भगवान के पास पहुँच गया। मारीच के प्रसंग में यही विलक्षणता है। यहाँ श्रीराम को सामने देख रहा था, फिर भी उनके ईश्वरत्व या उनकी महिमा का उसे रंच मात्र भी बोध नहीं हुआ। उसके मन में यज्ञ को नष्ट करने की प्रवृत्ति थी, पर श्रीराम के प्रति कोई मान या श्रद्धा का भाव नहीं था। फिर बाण लगने के बाद जब वह जाकर समुद्र के किनारे गिरा, जहाँ से बड़ी पास में ही रावण रहता था, परन्तु उसके मन में रावण से मिलने के लिए भी कोई उत्साह नहीं था। मारीच रावण के पास गया ही नहीं। जब बाण का प्रहार होगा, तो चोट लगेगी। तो इस प्रकार बाण के आघात द्वारा भगवान ने मारीच के मन में भय की सृष्टि की।

हनुमानजी या घोड़े के सन्दर्भ में बाण के प्रयोग की अपेक्षा नहीं है। पर ईश्वर के बाण में उसका काल तत्त्व भी छिपा हुआ है। गोस्वामीजी कहते हैं – हे मन! लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग तथा कल्प जिनके प्रचण्ड बाण हैं; काल जिनका धनुष है, उन श्रीरामजी को तू क्यों नहीं भजता? –

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड॥ ६/१

ईश्वर की स्मृति लाने का एक उपाय यह भी है। बाण के द्वारा जिस काल का प्रहार किया गया, उससे मृत्यु-भय उत्पन्न किया गया और वह भय बड़ा सार्थक हुआ। मन में जिस वस्तु से भय उत्पन्न होता है, तो उसी वस्तु का बहुत चिन्तन होने लगता है। मारीच के चरित्र में भी यही हुआ। अब मारीच के मन में इतना भय समाया हुआ है कि उसे हर क्षण भगवान और उनके बाण की याद आ रही है। इतना ही नहीं, उसने स्वयं ही अपने संस्मरण बताते हुए कहा था – "मेरी तो दशा ऐसी हो गई कि मैं जिधर दृष्टि उठाकर देखता

था – वृक्ष में, लता में, सरोवर में – मुझे तो बस वे दोनों भाई ही दिखाई देते थे।''

भइ मम कीट भृंग की नाई ।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ।। ३/२५/८

यह मन का – चिन्तन का पहली बार सदुपयोग हुआ। अब तक तो इस चंचल मन की चंचलता के द्वारा संसार का ही चिन्तन होता था, पर जब पूरे संसार में भगवान ही दिखाई देने लगे, तो संसार भी भगवान के रूप में दिखाई दे रहा है। उसके मन में परिवर्तन हुआ। चाहे भय से हो, अथवा प्रेम से – ईश्वर का चिन्तन ही तो सबसे अच्छी बात है। भक्त और सिद्ध मन में प्रेम से भगवान का चिन्तन होता है, परन्तु विषयी मन में तो भय से ही भगवान का चिन्तन होगा।

यह बड़े महत्त्व की बात है कि यदि व्यक्ति के अंत:करण में विषय के चिन्तन के स्थान पर काल और मृत्यु का चिन्तन हो जाय – अरे, क्या यह शरीर सदा रहेगा? क्या वृद्धावस्था नहीं आयेगी? क्या रोग नहीं घेरेगा? क्या मृत्यु नहीं आवेगी? – यह भय हम किसी तरह से मन में स्थापित कर सके, तो फिर उसका चिन्तन निश्चित रूप से भगवान की ओर होगा। इसीलिए मारीच के द्वारा यह चिन्तन होने लगा।

इस प्रकार मन में क्रमश: परिवर्तन हो रहा है। लेकिन अभी बहुत बड़ी समस्या बाकी है। – कौन-सी? यहाँ गीता और रामायण – दोनों के सिद्धान्तों में एक उत्तर दिया गया है। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात है कि मारीच भले ही रावण के पास नहीं जा रहा है, परन्तु रावण ही मारीच के पास आ गया; और रावण मारीच को कुमार्ग की ओर बाध्य करता है। गीता में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से एक प्रश्न किया और वह हमारे जीवन का भी होगा। बहुत-से काम तो हम लोग अपने मन से करते हैं, पर ऐसे भी बहुत से काम हैं, जिसमें हमारा मन नहीं चाहता, हम बुद्धि से समझते हैं कि वह ठीक नहीं है, फिर भी उसी दिशा में जाते हैं और वही काम करते हैं। गीता में अर्जुन ने भगवान से पूछा – महाराज, कृपा करके यह बताइए कि व्यक्ति न चाहने पर भी जो बुरी दिशा में ले जाया जाता है, बुरे कार्यों में प्रवृत्त होता है, इसके मूल में कौन है? –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। ३/३६

भगवान ने बताया – काम और क्रोध की वृत्ति ही व्यक्ति और उसके मन को गलत दिशा की ओर जाती है –

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः ।। ३/३७

रामायण में मारीच की समस्या भी वही है – 'अनिच्छन्नपि' – न चाहने पर भी उसे रावण के साथ जाना पड़ता है। रावण सीताजी को पाना चाहता है। उनके हरण का संकल्प करता है। बड़ी सांकेतिक भाषा है। सीताजी को कौन नहीं पाना चाहता? रावण भी अपवाद नहीं है। जब रावण भी सीताजी को पाना चाहता है, तो इसका अर्थ यह है कि संसार में कोई बुरे-से-बुरा व्यक्ति भी ऐसा नहीं है जो सीताजी को न पाना चाहता हो। पर रावण का दुर्भाग्य क्या है? सीताजी को पाने की उसकी पद्धति सही नहीं है। सही पद्धति क्या है?

सीताजी यदि शान्ति हैं, सीताजी यदि भक्ति हैं, सीताजी यदि शक्ति हैं, सीताजी यदि लक्ष्मी हैं, और यदि हम लक्ष्मी, शक्ति, शान्ति, भक्ति को पाना चाहते हैं, तो पाने की इच्छा तो बिलकुल ठीक है, वह तो रावण के अन्त:करण में भी है। सीताजी भगवान राम की भी प्रिया हैं, वे भी उन्हें पाने के लिये जनकपुर जाते हैं और रावण के हृदय में भी सीताजी को पाने की इच्छा है। परन्तु वस्तुत: शान्ति पाने का मार्ग क्या है, भक्ति और लक्ष्मी को पाने का मार्ग क्या है, शक्ति को पाने का सही मार्ग क्या है?

बस, यहीं पर रावण का दुर्भाग्य है। रावण ने जिस पद्धति से उन्हें पाने की चेष्टा की, उसने मन का प्रयोग करने का संकल्प किया। रावण मूर्तिमान मोह है। मोह का अर्थ है कि हम एक ही भूल को जान-बूझकर दुहराते रहते हैं, जानने के बाद भी हमारे आचरण में वही क्रिया परिलक्षित होती है, जो हमें नहीं करना चाहिए। जिस प्रेरणा से यह उल्टा कार्य सम्पन्न होता है, वही मोह है। गीता में उत्तर दिया गया कि काम और क्रोध मन को गलत दिशा में ले जाते हैं और रामायण की भाषा में कहें तो वह मोह है।

सीताजी को पाने का उपाय क्या है? यदि सीताजी शक्ति है और यदि हम शक्ति को पाना चाहते हों, तो शक्तिमान की कृपा से ही पायेंगे। किसी की कोई वस्तु है और यदि हम उसे पाना चाहते हैं, तो पाने की एक पद्धति यह है कि हम उससे चोरी द्वारा या छीनकर ले लेने की चेष्टा करें। और दूसरा रास्ता यह है कि जिसकी वस्तु है, उससे याचना करें कि उस वस्तु का कुछ अंश मुझे भी दे दीजिए।

रावण ने चोरी की पद्धति का आश्रय लिया। वह मारीच से कहता है कि तुम कपट-मृग बन जाओ, छल करो, राम को ठगो और मैं सीताजी को पा लूँ। तो यदि शक्तिमान को धोखा देकर, चोरी करके शक्ति को पाया जाय, तो क्या वह सही मार्ग है? यदि सीताजी भक्ति हैं, तो उन्हें पाने के लिए नवधा भक्ति का मार्ग ही ठीक है। नवधा भक्ति में बताया गया है – सरलता और निष्छलता से भक्ति प्राप्त होती है –

नवम सरल सब सन छलहीना ।
मम भरोस हियँ हरष न दीना ।। ३/३६/५

यदि सीताजी शान्ति हैं, तो वे ईश्वर से जुड़ी हुई हैं। ईश्वर को पाकर जीवन में सच्ची शान्ति मिलेगी। परन्तु रावण का दुर्भाग्य यही है कि सीताजी को पाने का उसका उद्देश्य तो अच्छा है, परन्तु उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसके द्वारा

अपनाया गया मार्ग ठीक नहीं है। आज भी लोगों को यही दिखाई देता है। कोई व्यक्ति सत्ता पा ले, शक्ति पा ले, धन पा ले, तो देखनेवाले को यही लगता है कि अरे भई, यह तो बड़ा अनुचित कार्य करता है। उचित काम करनेवाले के पास इतनी लक्ष्मी दिखाई नहीं देती, जितनी अनुचित काम करनेवाले के पास दिखाई दे रही है। या यह व्यक्ति तो बड़ा छली-कपटी है, इसके पास जितनी शक्ति और सत्ता है, उतना किसी अच्छे व्यक्ति के पास नहीं है। पर आप यदि रामायण के दर्शन पर दृष्टि डालेंगे, तो देखेंगे कि इस सच्चाई को अंगद ने रावण की सभा में प्रगट कर दिया। अंगद रावण की सभा में आते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं – रावण, तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी सदस्य यदि मेरा पैर हटा देगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा, भगवान राम लौट जाएँगे –

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी।। ६/३४/९

जब अंगद लौटकर आए, तो बन्दरों ने उनसे दो बातें पूछीं। वे बोले – "महाराज, ऐसी प्रतिज्ञा करने की क्या जरूरत थी? रावण यदि कोइ दॉव लगाने के लिए कहता, तब तो कुछ समझ में आता, पर आपने बिना कारण ही यह प्रतिज्ञा क्यों की?" दूसरा प्रश्न बन्दरों ने यह पूछा – "आपने इतनी बड़ी प्रतिज्ञा की, तो आपको चिन्ता भी तो बहुत रही होगी कि यदि पैर हट जायेगा, तो क्या होगा?" अंगद ने दोनों प्रश्नों का बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। वे बोले – "मैं सारे संसार के लोगों की आँखें खोलना चाहता था। उनको भ्रम हो गया है कि रावण ने सीताजी को पा लिया है। यदि रावण ने सचमुच सीताजी को पा लिया होता, तो मेरी प्रतिज्ञा सुनकर कहता कि सीताजी तो मेरे पास ही है, तुम मुझे क्या सीताजी को दोगे? परन्तु जब वह चेष्टा करने के लिए प्रवृत्त हो गया, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसने पाया-वाया नहीं था, केवल दिखाई भर दे रहा था। मैं बताना चाहता था कि कुछ लोगों को देखकर धोखा हो जाता है कि इन्होंने लक्ष्मी और शक्ति को पा लिया है, पर भीतर से वे भी जानते हैं कि कुछ पाया-वाया नहीं है, हम तो ढो रहे हैं। शक्ति को ढो रहे हैं या लक्ष्मी को ढो रहे हैं, या किसी विशेषता को ढो रहे हैं। जीवन का यह जो सत्य है, अंगद उसे प्रकट कर देते हैं। रावण पहले तो थोड़ी देर गम्भीर बनने की चेष्टा करता है, स्वयं न उठकर राक्षसों से कहता है – इस बन्दर के पैर को पकड़ कर पछाड़ दो और धरती पर पटक दो –

पद गहि धरनि पछारहु कीसा।

सारे राक्षस एक-एक कर के उठ रहे हैं, आ रहे हैं। जो सीताजी लंका में हैं, उन्हीं सीताजी को पाने की चेष्टा चल रही है। जब कोई भी उनके पैर को नहीं उठा सका, तो अंगद ने व्यंग्य भरी दृष्टि से रावण की ओर देखा। तब रावण की गम्भीरता की कलई भी खुल गई। असली प्रवृत्ति सामने आ गई। ललकार सुनकर वह स्वयं उठकर खड़ा हो गया –

उठा आपु कपि कें परचारे।। ६/३५/१

और जाकर जब अंगद के पैर की ओर झुका, तो अंगद ने कहा – रावण, इससे सिद्ध हो गया कि तुम सीताजी को नहीं पा सके हो; यदि उन्हें पाना चाहते हो, तो जान लो कि ईश्वर के चरणों को पकड़ने से ही सीताजी की उपलब्धि होती है –

गहसि न राम चरन सठ जाई।। ६/३५/३

जब तुम्हें बन्दर के चरण को पकड़ने में कोई संकोच नहीं है, तो ईश्वर के चरण को पकड़ने में क्या आपत्ति है?

हमारी यह मोहमयी वृत्ति ही बुरे मार्गों द्वारा इन वस्तुओं को पाना चाहती है। बन्दरों ने पूछा था – आपको चिन्ता हुई या नहीं? अंगद ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया – "मैने दाँव पर जो वस्तु लगाई थी, वह मेरी थी या किसी और की? सीताजी प्रभु की शक्ति हैं, तो चिन्ता उनको होनी चाहिए या मुझे? मैं क्यों चिन्ता करता? मैंने कोई अपनी वस्तु थोड़े ही दॉव पर लगायी थी? मैंने प्रभु की शक्ति को दॉव पर लगा दिया, अब वे जाने कि अपनी शक्ति को बचाना है या नहीं।"

यह मोहमयी प्रवृत्ति अनगिनत लोग देख रहे हैं। विश्व के इतिहास में कितने ही लोग धन-लक्ष्मी पाकर क्या अन्त में विनाश के गर्त में नहीं गये? शक्ति और सत्ता पाकर क्या विनाश की दिशा में नहीं बढ़े? परन्तु रावण फिर वही भूल दुहराता है। यही मोह है। यही मोह रूपी रावण मन-मारीच को भी बाध्य करता है। यदि मारीच रावण के पास नहीं आता, तो रावण स्वयं चलकर उसके पास आता है। मारीच समझाता है कि यह बिल्कुल ठीक नहीं। तुम्हें पता नहीं, पर मैं अनुभव कर चुका हूँ। अपना संस्मरण सुनाता है। परन्तु मोह अब भी पूरी तरह सक्षम है, इतना शक्तिशाली है कि वह मारीच को बाध्य कर देता है। धमकाता है – तुम गुरु बनकर मुझे समझा रहे हो? जो मैं कहूँ, चुपचाप वैसा ही करो –

गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।। ३/२६/२

हम लोगों के जीवन की भी यही समस्या है। हम लोग भी भगवान की पूजा करते हैं, भगवान का चिन्तन करते हैं, ध्यान करते हैं, परन्तु मोह हमें उस दिशा में चलने को प्रेरित करता है, जो हमें प्रिय नहीं है। हम न चाहकर भी उस ओर जाने को बाध्य हो जाते हैं। प्रारम्भ में ऐसी भी स्थिति होती है कि एक ओर तो हमारे अन्त:करण में चिन्तन है और दूसरी ओर मोह की प्रवृत्ति है, परन्तु मोह हमें वशीभूत कर लेता है। इसका समाधान भी मारीच-प्रसंग के माध्यम से होता है। गोस्वामीजी बताते हैं कि जिस क्रम से मारीच का उद्धार हुआ, उसी क्रम से यदि हम नाम-साधना में मन को प्रवृत्त करेंगे, तो अन्तोगत्वा मन भगवान में विलीन होगा और उसकी समस्या दूर हो जायेगी। ❖ **(क्रमश:)** ❖
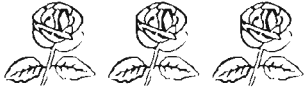
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१६१. जो तोको काँटा बुवे, ताहि बोई तू फूल

पाण्डवों का वनवास अभी समाप्त नहीं हुआ था। पाँचों पाण्डव एक वृक्ष की छाया में बैठकर विश्राम कर रहे थे। तभी थोड़े ऊपर से उन्हें एक विमान जाता दिखाई दिया। युधिष्ठिर ने विमान में जब दुर्योधन को बन्दी अवस्था में ले जाये जाते देखा, तो उन्हें यकीन नहीं हुआ। वस्तुत: एक यक्ष दुर्योधन पर आक्रमण करके उसे बन्दी बनाकर विमान में ले जा रहा था। युधिष्ठिर ने तत्काल अर्जुन से दुर्योधन को छुड़ा लाने को कहा। अर्जुन बोले, ''बड़े भैया, जिस दुर्योधन ने अनीति और अन्याय का सहारा लेकर हमारी दुर्गति करने में कोई कसर न छोड़ी, आप मुझे उस दुरात्मा की सहायता करने को कह रहे हैं। हमें तो शठे प्रति शाठयम् का व्यवहार करते हुए इसे अनदेखा करना चाहिये। क्या आपकी धर्मनीति यही कहती है कि जो आपके साथ शत्रुभाव रखकर सदा आपका अहित सोचे, उसके साथ आप उत्तम व्यवहार करें?''

युधिष्ठिर बोले – ''हाँ अर्जुन! धर्मनीति यही कहती है कि शत्रु को दुष्टता से नहीं सद्व्यवहार से जीतना चाहिये। दूसरों के साथ मनसा-वाचा-कर्मणा सद्व्यवहार करना ही धर्म है और दुर्व्यवहार करना अधर्म। प्राणिमात्र का हित सोचना और उनके प्रति मैत्री-भाव रखना धर्म है। वेद में स्पष्ट कहा गया है – बन्धन में पड़े व्यक्ति को बन्धन से मुक्त कराना चाहिये। फिर बन्दी दुर्योधन तो स्वजन है और स्वजन की मुक्ति तो तुम्हारा परम धर्म हो जाता है।''

१६२. सोइ गृहस्थ जीवन-सुख पावै

एक बार कबीरदासजी के पास एक व्यक्ति आया। उसने बताया कि वह अपने दाम्पत्य जीवन में सुखी नहीं है; वह उनके पास पति-पत्नी के सुखी रहने का मंत्र जानने आया है।

कबीरदासजी ने उसे रुकने को कहा और घर के अन्दर चले गये। वे तुरन्त थोड़ा-सा सूत लेकर लौटे और उसके पास बैठ गये। सूत उलझा हुआ था और वे उसे सुलझाने लगे। सूत इतना उलझा हुआ था कि उसे जल्दी सुलझाना सम्भव नहीं था। उन्होंने पत्नी को आवाज लगाई और कहा कि अँधेरा होने के कारण उन्हें दिखाई नहीं दे रहा है। पत्नी तुरन्त दीया लेकर आई। वह व्यक्ति यह देखकर हैरान रह गया कि अँधेरा न होते हुए भी कबीरदासजी ने दिखाई न देने की बात कही और उनकी पत्नी को यह बात मालूम होते हुए भी वह दीया लेकर क्यों आई! उसी समय कबीरदासजी ने पत्नी से दूध लाने को कहा। पत्नी झट से दो गिलास दूध लेकर आई। कबीरदासजी ने एक गिलास अपने पास रखकर दूसरा उस व्यक्ति को दिया। वे दूध पी रहे थे कि पत्नी ने भीतर से पूछा, ''दूध में शक्कर अधिक तो नहीं है।'' कबीरदासजी बोले, ''हाँ, शक्कर कुछ ज्यादा ही पड़ी है।'' वह व्यक्ति पुन: यह देख चकित हुआ कि दूध में शक्कर में बजाय नमक डाला गया है और यह जानते हुए भी पत्नी ने जान-बूझकर शक्कर के ज्यादा होने के बारे में पूछा था। कबीरदासजी ने दूध खारा लगते हुए भी उसे मीठा क्यों बताया! जिज्ञासा के समाधान हेतु उसने कबीरदासजी से दोनों बातों का खुलासा करने को कहा।

कबीरदासजी बोले, ''किसी दम्पति के सुखी रहने का राज यह है कि पत्नी-पत्नी शरीर से अलग-अलग भले ही हों, पर उन्हें हृदय से एक होना चाहिये। दोनों का परस्पर एक-दूसरे के प्रति विश्वास होना चाहिये और उन्हें एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से कभी नहीं देखना चाहिये। पत्नी को पति का आदेश शिरोधार्य करके उसे पूरा करना चाहिये तथा पति को पत्नी के किसी कार्य में दोष निकालकर उसका दिल नहीं दुखाना चाहिये। वे एक-दूसरे की इच्छा-आकांक्षा का ख्याल कर परस्पर सामंजस्यपूर्ण व्यवहार करें, तो उनके घर में सुख-शान्ति का साम्राज्य रहेगा। पति-पत्नी में परस्पर दुर्भावना न रहना ही सुखी गृहस्थ जीवन का मूलमंत्र है।

१६३. संगी ऐसा चाहिये

एक बार एक व्यक्ति ने सूफी सन्त हासम से पूछा, ''इस दुनिया में सच्चा संगी-साथी कौन है?'' सन्त बोले, ''यदि तू संगी चाहता है, तो अल्लाह को अपना संगी मान करके सब काम कर; यदि हमराही चाहता है, तो सिद्ध पुरुष ही काफी है; यदि उपदेश लेना चाहता है, तो किसी सच्चे महात्मा को पकड़; यदि सच्चे दोस्त का साथ चाहता है, तो कुरान के सिवा कोई अच्छा दोस्त नहीं; यदि दिल बहलाने की तलब है, तो प्रार्थना को अपने जीवन में उतार ले। और यदि ये बातें नागवार लगती हों, तो तेरे लिये नरक ही काफी है।'' उस व्यक्ति ने कहा, ''मेरी तो सुरक्षा की आरजू है।'' सन्त बोले, ''तब तो तुझे गुनाहों से बचना होगा। सुख-चैन तुझे तभी नसीब होगा, जब तू दिन भर पाक-साफ रहेगा। यदि तू सचमुच मुक्ति की उम्मीद करता है, तो हर हालत में तुझे अल्लाह के हुक्म की तामील करनी होगी। मगर तुझे सबसे पहले यह देखना होगा कि तेरा संगी बुरे कामों से परहेज करता हो और स्वर्ग की राह दिखाने वाला हो।'' ❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (२४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

कालड़ी – १९२६ ई.

कालड़ी श्री शंकराचार्य की जन्मभूमि है। ऊटकमण्ड जाने के मार्ग में संन्यासी वहाँ गया। डॉक्टर रमण तम्पी के अनुग्रह से वहाँ के राजकीय विश्राम-गृह में रहने की व्यवस्था हुई। वे त्रिवेन्द्रम राज्य के चीफ मेडिकल आफीसर थे और पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द (राजा महाराज) के मंत्रशिष्य थे। मैनेजर एक नम्बूदरी ब्राह्मण थे, जो आचार्य शंकर की ही जाति के थे। अतिथि-गृह के निकट ही चहारदीवारी से घिरे हुए दो छोटे-छोटे मन्दिर थे और सामने एक छोटी नदी बहती थी। कहते हैं कि इसी स्थान पर श्री शंकराचार्य का निवास-गृह था और वहीं के घाट पर वे स्नान आदि किया करते थे। चारों का दृश्य बड़ा मनोरम था। केरल प्रदेश का प्राकृतिक सौन्दर्य स्वर्गीय है।

संन्यासी ने मैनेजर से अनुरोध किया कि साथ ले जाकर दर्शन आदि करा दें। वे अस्वीकार करते हुए बोले – "इस दरवाजे से सीधे चले जाइये। सामने नदी है और इधर मन्दिर है। मैं नहीं जा सकूँगा। जाने से जातिच्युत होना पड़ेगा।"

संन्यासी स्नान करने के बाद भगवान शिव तथा आचार्य शंकर के मन्दिर में दर्शन आदि करके लौट आया। भिक्षा के लिये मैनेजर अपने घर में ही ले गये और सामने बैठकर खिलाया। बाद में संन्यासी ने पूछा – "वहाँ जाने से आप जातिच्युत क्यों होंगे? आचार्य शंकर तो आपके जाति-बन्धु हैं!" मैनेजर बोले – "सो तो है, पर उन्हें जाति से निकाल दिया गया था, क्योंकि वे विधवा-पुत्र थे। पिता की मृत्यु के अनेक दिनों बाद उनका जन्म हुआ था, इसीलिये जाति ने उनका बहिष्कार कर दिया था। संन्यासी ने कहा – "इसमें विचित्र क्या है? गर्भाधान होने के बाद ही यदि पति की मृत्यु हो जाय, तो उस प्रकार देर से सन्तान होना तो स्वाभाविक है। इसमें दोषदृष्टि रखना ही तो मूर्खता होगी। किसी भी घर में ऐसा हो सकता है। नहीं होता क्या? फिर जन्म चाहे जैसा भी हुआ हो, पर इन अवतार-कोटि के महापुरुष ने वैदिक धर्म पुन: स्थापना की। जिनकी विद्या असीम थी, जिनके भाष्य आदि ग्रन्थ पढ़कर दुनिया के सारे विद्वान् विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं, श्रद्धा से अवनत हो जाते हैं, जिनकी भारत के साधु-संन्यासी तथा महात्मा परमगुरु मानकर नित्य पूजा करते हैं, उन्हें हेय मानना तो महामूर्खता का कार्य है। वे तो नम्बूदरी ब्राह्मणों के गौरव हैं, उनके सिर के मुकुट हैं। आप आधुनिक शिक्षा पाकर भी इस मूर्खतापूर्ण मान्यता को स्वीकार करते हैं – इससे मैं स्वयं को अत्यन्त मर्माहत बोध कर रहा हूँ। आँखें खोलकर जरा बाहर की ओर देखिये और इस प्रकार के संकीर्ण तथा भ्रान्त मनोभाव का त्याग कीजिये।"

मैनेजर बोले – "आपके साथ जा भी सकता हूँ।"

संन्यासी – "फिर लौटने के बाद स्नान करके शुद्धीकरण भी तो करेंगे? खेद की बात है !!"

ओट्टपालेम

ओट्टपालेम उत्तरी मलाबार (केरल) में स्थित है। वहाँ नये आश्रम की स्थापना हुई है। संन्यासी स्वामी निरंजनानन्द तथा वागीश्वरानन्द के विशेष आग्रह पर, वह कालड़ी में आचार्य शंकर के जन्मस्थान का दर्शन करने के बाद वहाँ गया। वहाँ से विदा लेने के दो-तीन दिन पूर्व एक स्थानीय भक्त के निमंत्रण पर संन्यासी उनका ग्राम देखने गया। साथ में उपरोक्त संन्यासी-द्वय भी थे। भक्त ब्राह्मण थे और 'केरल-केसरी' नामक समाचार-पत्र के सम्पादकीय विभाग में कर्मचारी थे।

ग्राम में प्रवेश करते ही देखा कि एक वृद्धा एक विशाल इमली के वृक्ष के नीचे बैठी है और इमली के बीजों को तोड़-तोड़कर दो बच्चों को खिला रही है। दोनों बच्चे भूखे थे और 'अम्मा-अम्मा' कहते हुए खा रहे थे। वृद्धा 'रामा-रामा' कहती जा रही है और पत्थर से इमली के बीज तोड़ी जा रही है। संन्यासी ने खड़े होकर देखा और उन सज्जन से पूछकर जान लिया कि ये लोग पंचम जाति के अत्यन्त निर्धन लोग हैं। बच्चों के पिता की मृत्यु हो चुकी है और माँ खूब बीमार है। यह वृद्धा ही किसी प्रकार अपना परिवार चला रही है।

इन पंचम जाति के लोगों को गाँव में घुसने की अनुमति नहीं है। ये लोग गाँव के बाहर ही रहते हैं और चिल्ला करके भिक्षा माँगते हैं। गृहस्थों को दया आने पर किसी दूर स्थान पर पत्तल में अन्न रख देते हैं और इशारे से उन्हें बता देते हैं। वे लोग उसे दौड़कर ले जाते हैं, नहीं तो कुत्ते आदि उठा ले जायेंगे। काठ आदि कुछ लाने पर उसे दूर रखकर खड़े हो जाते हैं और चिल्लाकर बताते हैं। जिनको लेना है,

वे उस पर पानी के छींटे डालकर उसे ले लेते हैं और उसी स्थान पर पैसे रख देते हैं।

उत्तरी भारत में चार वर्ण हैं और दक्षिण में पाँच वर्ण। ये लोग वेद तथा स्मृतिकारों के भी आगे चले गये हैं। परवर्ती किसी-किसी स्मृति में पंचम वर्ण का उल्लेख मिलता है।

गृहस्थ ने भात और तरह-तरह के चर्व, चोष्य, लेह्य, पेय व्यंजन बनवाये थे – मलाबार के खास-खास व्यंजन। परन्तु संन्यासी ने पहले उस वृद्धा तथा बच्चों को खाना दे आने को कहा, क्योंकि नेत्रों के समक्ष उन्हीं की बुभुक्षा-पीड़ित कण्टकाकार आकृति ही उद्‌भासित हो रही थी।

गृहस्थ तो बड़ी मुश्किल में पड़े। ऐसा कैसे हो सकता है! पहले उन्हें कैसे दिया जा सकता है? तब तो सारा भोजन जूठा हो जायेगा। महिलाओं ने घोर आपत्ति व्यक्त किया। संन्यासी ने कहा – "तो आप लोग पहले खा लीजिये। फिर उन लोगों को देना हो जाने पर मैं खा लूँगा।" परन्तु यह भी सम्भव न था। प्रमुख अतिथि को इस प्रकार छोड़कर बाकी लोग भला कैसे भोजन कर सकते थे! सभी लोग किंकर्तव्य-विमूढ़ थे! क्या किया जाय? आखिरकार संन्यासी ने कहा – "एक काम कीजिये, अग्रभाग को सबके लिये निकालकर रख लीजिये, साधुओं के लिये भी। उसके बाद एक संन्यासी जाकर उन लोगों को दे आयेंगे। इससे शास्त्रीय विधि से भी भोजन उच्छिष्ट नहीं होगा।"

बहुत विचार-विमर्श के बाद अन्ततः महिलाओं ने उसे मान लिया और कोई नाराज भी नहीं हुआ। भोजन को ले जाकर सम्भवतः स्वामी वागीश्वरानन्द उन्हें दे आये।

उसके बाद भोजन करते समय संन्यासी बोला – "इतना कष्ट है, तो भी राम को नहीं भूली। यदि वे ईसाई हो गये होते, तो उनका यह अभाव दूर हो गया होता, यह बात वे लोग निश्चय ही जानते हैं, तो भी उनके हृदय पर तो राम-भक्ति ने अधिकार जमा रखा है, इसीलिये वे इतना दुःख तथा लांछना सहकर भी पड़े हुए हैं। और आप लोग तो देशोद्धार के लिये कटिबद्ध हैं, परन्तु थोड़ा-सा अन्न देकर इन लोगों का पालन नहीं कर सकते। आप उन्हें कोई कार्य करने का अधिकार नहीं देंगे; और इतने कष्ट में देखकर भी थोड़ा-सा भोजन नहीं देंगे। वे भी मनुष्य हैं और आप मनुष्य के प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य है, उसे करना नहीं चाहते; इधर स्वामी विवेकानन्द के भक्त हैं, उनके नाम की जयजयकार भी करते हैं! यह बड़ी लज्जा की बात है।"

गृहस्थ सज्जन ने प्रतिज्ञा की कि जब तक उन बच्चों की माँ स्वस्थ होकर लकड़ी आदि एकत्र करने के अपने कार्य में जाने योग्य नहीं हो जाती, तब तक वे उन लोगों के भोजन की व्यवस्था करेंगे। उसके द्वारा लकड़ी आदि लाने पर वे लोग ही सर्वप्रथम उसे उचित मूल्य देकर खरीदेंगे।

रेलवे स्टेशन के मार्ग में

संन्यासी ऊटी या उटकमण्ड जायेगा। ओट्टपालेम में वहाँ जाने के लिये गाड़ी खूब भोर में आती है। आश्रम से स्टेशन करीब डेढ़ मील दूर है। कोई वाहन नहीं मिलता। स्कूल के सहकारी शिक्षक नीलकण्ठ अय्यर ठाकुर के दक्षिणी भक्त हैं। उनका घर स्टेशन के पास ही था। बोले – "चलिये, रात में सत्संग किया जायेगा और भोर के समय आपको गाड़ी में बैठा दूँगा।"

संध्या के पूर्व ही संन्यासी ने पूज्य स्वामी निर्मलानन्द तथा अन्य साधु-भक्तों से विदा ली और नीलकण्ठ के साथ चल पड़ा। एक अन्य व्यक्ति भी साथ हो गये। ये भी दक्षिणी अय्यर ब्राह्मण थे, उन्हें अपने कर्मस्थल क्विलान जाना था और उनकी भी गाड़ी सबेरे ही थी। नीलकण्ठ बोले – "सड़क-मार्ग से जाने पर काफी चलना पड़ेगा, परन्तु रेल की पटरी के बगल से जाने पर रास्ता आधा हो जायेगा। चलिये, आपको रास्ता दिखाते हुए ले जाऊँगा।"

आगे-आगे नीलकण्ठ, बीच में संन्यासी और पीछे क्विलान के हेड-मास्टर अय्यर। अन्धकार हो गया था। पहाड़ी अंचल था। नैरो गेज रेल की पटरी नदी के किनारे-किनारे बिछायी हुई थी, इसलिये उसके लिये ऊँचा बाँध बनाया गया था। दोनों ओर गहरी खाई थी। यदि बीच में ही गाड़ी आ जाय, तो खड़े होने के लिये जगह न थी; उस खाई के ढलाव पर उतर जाना पड़ता। अँधेरा था, इसीलिये लाइन के बीच से धीरे-धीरे चला जा रहा था। संन्यासी के हाथ में छड़ी थी और नीलकण्ठ के हाथ में उसकी पोटली थी, जिसमें उसका कम्बल, दो-एक वस्त्र तथा गीता की पुस्तक थी। हेड-मास्टर खाली हाथ थे।

थोड़ी दूर जाने के बाद देखा कि ९-१० लोग हाथ में लालटेन तथा लाठी लिये सामने से चले आ रहे हैं। निकट आ जाने पर उनमें से एक ने चिल्लाकर कुछ कहा और सभी लोग ठहर गये। संन्यासी ने नीलकण्ठ से पूछा – "क्या कह रहा है?" – "अछूत हो, तो रास्ता छोड़ दो।" संन्यासी ने कहा – "उत्तर मत देना। देखें क्या करते हैं!" और स्वयं जैसा चल रहा था, वैसे ही चलता रहा।

हे भगवान! उत्तर न मिलने पर वे लोग गालियाँ बकते हुए स्वयं ही ढाल पर उतर गये। नीचे बाँस का जंगल था, काफी झाड़-झंखाड़ भी थे और वह भयंकर विषधर सर्पों का इलाका था। पास से गुजरने पर उन लोगों ने लालटेन के प्रकाश में नीलकण्ठ को पहचान लिया। बोले – "ओह! नीलकण्ठम्!" इसके बाद वे लोग मलयाली भाषा में बातचीत करने लगे और समझ गये कि संन्यासी ने ही दुष्टता करके उन्हें बोलने नहीं दिया। वे लोग तत्काल अपनी भाषा में संन्यासी को खूब बुरा-भला कहने लगे।

तीनों जन बिना कुछ बोले यथापूर्व चलते रहे। थोड़ी दूर जाने के बाद नीलकण्ठ ने कहा – "स्वामीजी, आपने उत्तर देने से मना क्यों किया था?" हेड-मास्टर ने भी पूछा – "इससे आपको क्या लाभ हुआ? यदि उनमें से कोई साँप काटने से मर जाता, तो ब्रह्महत्या का पाप लगता।"

संन्यासी बोला – "लाभ तो बहुत हुआ है। चक्र एक बार पूरा घूम चुका है। ये (नम्बूदरी ब्राह्मण) दस लोग थे, परन्तु इन तीन लोगों के भय से, स्पर्श-दोष हो जाने की आशंका से नीचे उतर गये। छू जाने से उनका क्या बिगड़ जाता। बहुत हुआ तो वे लोग एक बार स्नान कर लेते। अस्पृश्य लोग पहले तो इनके भय के कारण न केवल दूर हट जाते थे, बल्कि धरती के ऊपर उल्टे लेट जाते थे या किसी वृक्ष के पीछे छिप जाते थे। परन्तु अब ईसाइयों के आश्रय में जाने से इनका साहस बढ़ गया है और ये लोग अब उनका भय नहीं मानते। दूसरी ओर इन लोगों की दुर्दशा बढ़ गयी है। अब इन्हें स्वयं ही रास्ता छोड़ना पड़ रहा है। आप लोगों ने देखा न – सब उलटता जा रहा है ! यदि अब भी ये लोग सावधान नहीं हुए, थोड़ी बुद्धि खरच कर विपरीत परिस्थिति को न समझें, तो इन्हें निम्न जातियों के हाथ और भी अधिक अपमानित होना होगा। 'जिनका तुमने किया अपमान। तव गति होगी उन्हीं समान।' – कवि की यह उक्ति फलित होने लगी है, इसे मैंने प्रत्यक्ष देखा, इसलिये संन्यासी का नुकसान नहीं, बल्कि लाभ ही हुआ है।

"और आपने सर्पदंश से किसी के मृत्यु होने की जो बात कही, तो मान लीजिये कि हम तीन लोग अछूत-हरिजन होते, तो क्या साँप की हमारे साथ मित्रता है कि वह हमें नहीं काटता? हमारे जीवन का क्या कोई मूल्य नहीं? चाहे कोई निम्न वर्ण का हो, या उच्च वर्ण का – हर मनुष्य के जीवन का एक मूल्य है। भारतीय उच्च वर्ण के लोग उस मूल्य को स्वीकार करना भूल गये हैं, इसका भयंकर फल हुआ है तथा अब और अधिक हो रहा है। अब भी उन्हें चेत जाना चाहिये और मनुष्य के साथ मनुष्य के जैसा व्यवहार करना चाहिये। इसी कारण बंगाल के लाखों लोग मुसलमान हुए हैं और वहाँ के लोग प्रतिदिन उसका विषमय फल भोग रहे हैं।

"शास्त्र यदि अमानुषिक व्यवहार करने को कहता हो, तो ऐसा शास्त्र सभ्य समाज में मान्य नहीं हो सकता। और धर्म यदि अमानुषिक अत्याचार की स्वीकृति देता है, तो ऐसा धर्म त्याग देना ही उचित है। जो धर्म मानवता से रहित है, वह धर्म नहीं, असुर-धर्म हो सकता है। आप लोग स्वामीजी से प्रेम करते हैं। श्रीरामकृष्ण की पूजा करते हैं। उनकी शिक्षाओं आप लोगों को क्या ऐसा कुछ मिला है

किसी को नीचे गिराकर स्वयं के या अपने वर्ग या वर्ण के लोगों की प्रशंसा करना ही ब्राह्मण के लिये आचरणीय धर्म है। अपने वर्ग या वर्ण की श्रेष्ठता के दावे के आधार पर बहुत दिनों तक सामाजिक जुल्म हुए हैं, परन्तु अब वे दिन जा चुके हैं। ईसा मसीह ने कहा था – "The day of judgement is near at hand. Repent ye, before ye are cast into hellfire." क्या आप लोग देखते नहीं कि आपके प्रदेश के बहुत से गाँवों में दो-दो चर्च बन गये हैं और बहुत-से लोगों को अपने घर-बार छोड़कर चले आना पड़ा है? जिन लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है, उनमें से अधिकांश इन्हीं अस्पृश्य या निम्न जातियों के थे। ... अत: सावधान होकर उन लोगों के साथ मानवोचित व्यवहार करते रहिये। उनके साथ बैठकर खाना होगा या फिर उनके घर में बेटी ब्याहनी होगी – ऐसा मैं नहीं कहता, परन्तु उन लोगों के साथ एक साधारण मनुष्य के समान व्यवहार रखिये। इसी से भविष्य में अप्रीतिकर संघर्ष को टाला जा सकता है। यदि स्वामीजी से प्रेम करते हों, तो उनके ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन कीजिये।"

दोनों मौन रहकर सुनते रहे। रात में दूसरी बहुत-सी बातें हुईं, परन्तु इस विषय पर ज्यादा चर्चा नहीं हुई। केवल कुछ अर्वाचीन स्मृतिकारों के अत्याचार पर चर्चा हुई, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में कान में शीशा आदि भर देने की व्यवस्था दी है। उनका यह मत पूरी तौर से अवैदिक है – इस विषय में कुछ चर्चा हुई थी।

सुबह दोनों ने संन्यासी को अपने साथ स्टेशन ले जाकर गाड़ी में बैठाकर विदा कर दिया था।

बैंगलोर

बैंगलोर में संन्यासी एक महीने से भी अधिक काल तक रहा। स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव के अवसर पर आश्रम में बहुत से भक्तों का समागम हुआ है। आनन्द का मेला लगा हुआ है। प्रसाद ग्रहण के समय संन्यासी को पहली पंक्ति में बैठाया गया। मैसूर राज्य के एक कमिश्नर श्री अयंगार उसकी बगल में ही बैठे हैं। उनके बाद ही एक रिटायर्ड सब जज श्री पिल्लई हैं। सभी लोग बैठ गये हैं, परन्तु पिल्लई महाशय आसन पर खड़े हैं। बात क्या है? संन्यासी ने देखा कि सामने की पंक्ति में बैठे पिल्लई महाशय के पुत्र हाथ मल रहे हैं और इधर श्री अयंगार भी वैसा ही कर रहे हैं। सहसा संन्यासी को लगा कि ऐसा करने के पीछे कुछ ब्राह्मण-अब्राह्मण का प्रश्न है और उसी कारण से श्री पिल्लई खड़े हैं। संन्यासी ने श्री अयंगार से कहा – "आप कृपा करके मेरे आसन पर आइये।" और स्वयं श्री अयंगार के आसन पर बैठकर बोला – "अब बैठ जाइये पिल्लईजी।" श्री पिल्लई का पुत्र इंग्लैंड में इंजीनियरिंग पढ़ा हुआ है। उन्होंने संन्यासी से प्रश्न किया – "आदमी-आदमी के बीच ऐसा भेद क्यों किया जायेगा? हम किस बात में छोटे हैं?"

यह सुनते ही अयंगार महाशय बोले – "मैंने तो कोई आपत्ति नहीं की, परन्तु वे ही नहीं बैठ रहे थे।" झगड़ा कहीं बढ़ न जाय, इस आशंका से संन्यासी ने तत्काल कहा – "खाते समय यह सब चर्चा नहीं होगी, बाद में देखा जायेगा।" सचमुच ही श्री अयंगार ने तो कुछ कहा भी नहीं था।

भोजन के बाद हॉल में बैठते ही पिल्लई के पुत्र ने फिर वही प्रश्न उठाया। अयंगार बोले – "इस आश्रम के भीतर मैं कोई भी भेद-विचार नहीं रखता। भगवान के दरबार में वैसा करना अनुचित है। परन्तु घर में समान अधिकार नहीं दे सकता, महिलाएँ इस पर आपत्ति करती हैं।"

संन्यासी ने कहा – "आश्रम में उन्होंने कोई भेदभाव नहीं किया। श्री पिल्लई को श्री अयंगार की बगल में ही आसन दिया गया था, परन्तु वे स्वयं ही नहीं बैठ रहे थे। अत: इसके लिये श्री अयंगार को उत्तरदायी बनाना अनुचित होगा। अयंगार के घर के व्यवहार के साथ आश्रम का क्या सम्बन्ध है? उनके मन में सुन्दर उदार भाव है, पर लगता है कि आप लोगों के मन में ही हीनता की ग्रन्थि है। जब यहाँ आयेंगे, तो अपने मन से ये सारे भाव बाहर निकालकर आयेंगे। आप लोग श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के अनुयायी हैं – आप लोगों के मन से हर प्रकार की संकीर्णता दूर हो जानी चाहिये।"

इसी प्रकार उस झगड़े का समाधान हो गया।

बहरमपुर (मुर्शिदाबाद)

पूर्वोक्त घटना के साथ इसका भी थोड़ा साम्य है, इसीलिये याद आया। राय महाशय के आग्रह पर संन्यासी बहरमपुर गया था। उसके बड़े भाई वहाँ के महाराजा मणीन्द्र नन्दी के नायब दीवान थे। उनकी पूजनीया दादी के वार्षिक श्राद्ध का अवसर था, जो संन्यासी को बड़े स्नेह की दृष्टि से देखती थीं और उसके संन्यास लेने के पूर्व ही कहती थीं – तुझे देखते ही जप करने की इच्छा होती है। इसलिये वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर वे बड़े आग्रहपूर्वक ले गये थे।

ब्राह्मण, कायस्थ – सभी को निमंत्रण दिया गया था। भव्य भोज का आयोजन था। स्वयं महाराजा भी आनेवाले थे। सहसा ब्राह्मण लोग कह उठे कि जिस हॉल में कायस्थ लोग बैठेंगे, उसमें वे नहीं खायेंगे, क्योंकि इससे दोनों की समान पंक्ति हो जायेगी। कायस्थों ने कहा कि वैसा भेदभाव करने पर वे लोग भी नहीं खायेंगे। बड़ी समस्या खड़ी हो गयी। राय महाशय के एक भाई ने संन्यासी से ब्राह्मण लोगों को समझाने का अनुरोध किया, क्योंकि हॉल एक ही होने के बावजूद पंक्तियाँ अलग-अलग लगायी गयी थीं और पकाना, परोसना आदि सब ब्राह्मण लोग ही कर रहे थे। संन्यासी ने कहा – "एक तो संन्यासी को सामाजिक मामलों में कुछ बोलने का अधिकार नहीं है और दूसरे वह यहाँ अपरिचित भी है, अत: बोलने से कोई लाभ नहीं होगा।"

पर उनके जोर देने पर वह बाध्य होकर ब्राह्मणों से बोलने को उठा। उनमें से एक नेतृ-स्थानीय वृद्ध बोले – "आप संन्यासी हैं, समाज के बाहर हैं, तो फिर इसके बीच क्यों पड़ रहे हैं? उन लोगों ने ब्राह्मणों की अवज्ञा करके उपनयन लिया है, अत: उन लोगों के साथ हमारा व्यवहार नहीं है। इसीलिये पंक्ति-भोजन में हम लोग शामिल नहीं हो सकते।"

– "परन्तु महाशय, हॉल एक होने पर भी पंगतें तो दो अलग-अलग लगायी गयी हैं।" – "उसी कमरे में बैठाने से पंक्ति हो जाती है। हम उनके साथ नहीं खायेंगे। बस!"

अब क्या हो? तब संन्यासी ने सलाह दिया कि महाराजा को सूचित किया जाय और वे जैसा कहें, वैसा ही करना उचित होगा, क्योंकि वे स्वयं भी तो आनेवाले हैं।

बड़े राय महाशय स्वयं महाराजा के पास गये और लौट कर सूचित किया – उन्होंने कहा है कि वे आकर निर्णय देंगे। इस समय जैसा है, वैसा ही रहे। भोजन शुरू होने के १०-१२ मिनट पहले वे आकर बोले – "तो सब कुछ तैयार है न!" तैयार है – सुनकर उन्होंने पुकारा – "कहाँ हैं भट्टाचार्य महाशय! चलिये! बाकी सब लोग भी चलिये! देरी हो गयी है। और हॉल की ओर अग्रसर हुए। सभी लोग निरुपाय होकर उनके पीछे-पीछे चले। सहसा आपत्ति उठाने का किसी को साहस नहीं हुआ। सभी उनके कृपापात्र थे, अपना सिर उन्हें विक्रय कर रखा था। उधर ब्राह्मणों के बैठने की व्यवस्था उनके बाईं ओर तथा कायस्थों के बैठने की व्यवस्था उनके दाईं ओर की गयी थी। बीच में महाराजा का आसन था। सबको 'आइये'-'आइये' – कहते हुए अपने आसन पर जाते ही वे बैठ गये और सबको बैठने का इशारा किया। सब्जी आदि पहले से ही परोसा हुआ था, गरम पूरियाँ आदि आनी बाकी थी। ब्राह्मणों के नेतृस्थानीय बड़े भट्टाचार्य महाशय बोले – "महाराज, मेरा एक निवेदन है।" महाराजा – "हाँ, हाँ, यही न कि आप लोग कायस्थ लोगों के साथ एक ही पंक्ति में नहीं बैठेंगे! तो ठीक वैसी ही व्यवस्था तो हुई है। बीच में मैं तेल हूँ। तेल पानी से नहीं मिलता। बैठ जाइये।" कई ब्राह्मण बोले – "आप महाराज हैं, आपकी बात भिन्न है!" महाराजा – "हाँ, हाँ, ठीक है, तभी तो पंक्ति-भेद हो गया है। अब बैठ जाइये। अरे, पूड़ियाँ लाओ, पूड़ियाँ।" बाध्य होकर सभी लोग बैठ गये।

इन निरहंकारी देवतुल्य पुरुष महाराजा मणीन्द्र नन्दी के सभी लोग ऋणी हैं। बहुत-से लोग उनका उपकार मानते थे, इसीलिये सभी चुप हो गये। उनकी जय हो!!

❖ (क्रमश:) ❖

रक्षा-कवच

स्वामी सत्यरूपानन्द

हमारे जीवन का प्रत्येक निर्णय हमारे नैतिक चरित्र का निर्माण अथवा विनाश करता है। हमारा हर कर्म, हमारे ज्ञात अथवा अज्ञात निर्णयों का क्रियान्वयन मात्र है। हमारे दैनन्दिन निर्णयों का संकलित रूप ही हमारा चरित्र है। क्षुद्र वासना-कामनाओं के साथ किया गया हमारा संघर्ष हमें प्रबल और उद्दाम वासनाओं को पराजित करने की सामर्थ्य देता है। प्रलोभनों और परीक्षाओं के समय यही संघर्ष-प्रसूत शक्ति हमारी रक्षा करती है।

पाण्डव वनवास का कष्ट भोग रहे थे। युधिष्ठिर को यह निश्चय-सा प्रतीत हो रहा था कि दुर्योधन से युद्ध करना ही पड़ेगा। इस विचार के आते ही उनकी मानसिक दृष्टि कौरवपक्ष के उन योद्धाओं पर पड़ती जो भावी युद्ध में उनकी विजयवाहिनी के लिये अभेद्य प्राचीर सिद्ध हो सकते थे। पितामह भीष्म, महारथी कर्ण, अजेय गुरुद्रोण और न जाने कितने योद्धा, जिन्होंने आजन्म समरभूमि में पराजय नहीं देखा था, युधिष्ठिर के मनश्चक्षुओं के सामने एक-एक कर आ रहे थे। कौन वीर रणभूमि में इन नरपुंगवों से लोहा ले सकेगा? उनकी दृष्टि वीर अर्जुन पर आकर स्थिर हो जाती।

किन्तु वीरता और सामर्थ्य तो इन महारथियों में भी है, फिर अर्जुन की विशेषता क्या?

महर्षि व्यास का परामर्श उनके स्मृति पटल पर झलक उठा। यदि अर्जुन तपस्या द्वारा इन्द्र को प्रसन्न कर ले, तो उसे दिव्य अस्त्र प्राप्त हो सकते हैं। उन्हें प्राप्त कर लेने पर अर्जुन अजेय हो जायेगा। फिर उसे समरभूमि में देवगण भी पराजित नहीं कर सकेंगे।

एक दिन एकान्त में युधिष्ठिर ने स्नेहपूर्वक अर्जुन से कहा, ''अर्जुन! पितामह भीष्म की सामर्थ्य, गुरु द्रोण की अजेयता तथा कर्ण की दुर्धर्ष शक्ति से हमें लोहा लेना ही पड़ेगा। तुम निस्सन्देह सामर्थ्यवान हो। मुझे तुम्हारी शक्ति पर अटूट विश्वास है। किन्तु ....''

अर्जुन ने व्यग्रतापूर्वक पूछा, ''किन्तु क्या, तात!'' युधिष्ठिर ने कहा, ''तुम अजेय और अपराजित भी हो सकते हो यदि ....''

सव्यसाची ने अधीर होकर कहा, ''यदि! यदि राजन् मुझे .....''

युधिष्ठिर ने बीच में ही कहा, ''यदि तुम तपस्या द्वारा इन्द्र को प्रसन्न कर सको, तो तुम्हें दिव्य अस्त्र प्राप्त हो सकते हैं। फिर तुम अजेय हो जाओगे। समरभूमि में तुम्हें देवता भी पराजित नहीं कर सकेंगे। तुम्हारी सामर्थ्य और इन्द्र के दिव्य अस्त्रों से विजयश्री हमारी होगी।''

अर्जुन ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया, ''भगवन् , आज्ञा दें और मेरा पथ-प्रदर्शन करें कि मुझे क्या करना होगा। मैं आपकी कार्य सिद्धि के निमित्त प्राण भी उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हूँ।''

युधिष्ठिर ने गद्गद् हृदय से अर्जुन को गले लगा लिया। पार्थ ने भी ज्येष्ठ भ्राता की चरणरज लेकर कृतार्थता का अनुभव किया। युधिष्ठिर ने अर्जुन को प्रति-स्मृति विद्या की यथोचित दीक्षा दी और तपस्या के लिये जाने का आदेश दिया।

अर्जुन ने कठोर तप किया। यथा समय उन पर इन्द्र की कृपा हुई। इन्द्र ने उन्हें स्वर्ग में लाने के लिये अपना रथ भेजा। अर्जुन सम्मानपूर्वक स्वर्ग ले जाये गये। वहाँ उन्होंने अनेक दिव्य अस्त्र प्राप्त किये। उनका प्रयोग और संधान आदि सीखा। स्वर्ग में अर्जुन के दिन सुखपूर्वक बीतने लगे।

कृष्ण-सखा ने अपने तपोबल से स्वर्ग प्राप्त किया था। फिर, वे देवराज इन्द्र के पुत्र थे। अत: स्वर्ग में उनका विशेष सम्मान था। उन्हें विशेष सुविधायें प्राप्त थीं। उनके सम्मान में विशेष नृत्य-गान आदि का आयोजन किया गया। अनेक रूपवती अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। हठात् अर्जुन की दृष्टि एक अत्यन्त रूपवती अप्सरा पर आकर स्थिर हो गयी। अर्जुन निर्निमेष दृष्टि से उसे निहारते रहे। सुन्दरी अप्सरा ने भी अर्जुन की दृष्टि को पकड़ लिया। देवराज इन्द्र से भी यह बात छिपी न रह सकी।

नारी अपने सौंदर्य को तभी सार्थक समझती है, जब ऐसा पुरुष उसकी ओर आकर्षित हो जिसके प्रति अन्य सुन्दरियाँ स्वाभाविक रूप से आकर्षित होती हों। कुन्तीनन्दन तरुण थे, तपस्वी थे। सौन्दर्य तथा पौरुष मानों उनमें मूर्तिमान होकर प्रकट हुये थे। इन्द्रसभा की सभी सुन्दरियों की दृष्टि अर्जुन पर जम-सी गयी थी और ऐसे अर्जुन की दृष्टि उस सुन्दरी अप्सरा पर जमी थी।

रूप की सम्राज्ञी रूप-मद में मस्त हो उठी। एक बार उसने उपेक्षापूर्ण कटाक्ष से अपनी सह-नर्तकियों की ओर देखा। उसकी दृष्टि से रूप का अभिमान, विजय का मद और उपेक्षा का भाव मानों चू सा रहा था। दूसरे क्षण लोलुप-दृष्टि से उसने पुन: इन्द्रकुमार की ओर देखा। वे अभी भी निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देख रहे थे।

सौन्दर्य का अभिमान वासनाओं का आमंत्रण है। उसका पर्यवसान भोग में ही होता है। मदन की ज्वाला दृष्टिपथ से प्रविष्ट होकर विवेक को धूमाच्छादित कर देती है। पुरुष के हृदय में काम की ज्वाला फूस की आग के सदृश है, जो जितनी शीघ्रता से भड़कती है, उतनी शीघ्रता से शान्त भी हो जाती है। किन्तु नारी का हृदय उस कठोर काष्ठ के समान होता है जिसमें शीघ्र आग लगती नहीं, किन्तु एक बार लगने पर फिर शीघ्रता से बुझती नहीं और भीतर-ही-भीतर जलती रहती है, धूमाच्छादित करती रहती है। इस धूम की कालिमा में फिर नारी पुरुष का भाव नहीं पढ़ पाती। पुरुष की सात्त्विक चेष्टा भी फिर उसे तामसिक तृप्ति का आह्वान प्रतीत होती है। यही दशा हो गई थी स्वर्ग की अनिंद्य सुन्दरी अप्सरा उर्वशी की, कुन्तीकुमार अर्जुन को देखकर। अर्जुन की निर्मल निश्छल दृष्टि में उसे कलुषित वासना का आह्वान प्रतीत हुआ।

मन ही मनसिज की जन्मभूमि है। यही उसकी क्रीड़ा-स्थली है। कल्पना उसकी सहचरी है। कल्पना के अभाव में वह अकर्मण्य और निष्क्रिय हो जाता है। कल्पना का दीर्घकालीन असहयोग मनसिज की मृत्यु का भी कारण हो सकता है। किन्तु दूसरी ओर, कल्पना का सहयोग उसे दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ाता जाता है। शारीरिक भोग तो उसकी अभिव्यक्ति मात्र है।

कल्पना के राज्य में ही मन अपनी रंगरेलियाँ रचता है। कल्पना का सान्निध्य और सौन्दर्य उसे विभोर कर देता है। कल्पनाजन्य आनन्द में चिन्तन की निरन्तरता रहती है, जब कि आनन्द के ऐन्द्रिक उपभोग में उसका क्षय होता जाता है। सुख के प्रति यह कल्पनाजन्य आकर्षण ही लोभ का कारण है और लोभ तृष्णा को जन्म देता है

सुन्दरी उर्वशी को कल्पना की इस छलना ने खूब छला था। कल्पना के रंगमहल में अर्जुन उसके हो चुके थे। कल्पना उसे पाण्डुनन्दन के सान्निध्य-सुख का रसास्वादन करा रही थी।

पर अर्जुन स्वर्ग की भोग-सामग्रियों के प्रति निर्लिप्त थे। यह उनकी साधना का काल था। मानव-मन की प्रकृति यह है कि यदि उसे किसी महत् कार्य में निरन्तर लगाये रखा जाय तो वह उस काल तक निम्न वासनाओं से मुक्त रहता है।

अर्जुन के इस भाव को देवराज भी न समझ सके थे। उन्होंने देखा था कि नृत्यशाला में अर्जुन की दृष्टि उर्वशी पर स्थिर है। स्वर्ग भोग का लोक है। वहाँ सभी को मनोवांछित भोगों की प्राप्ति होती है। फिर इन्द्रतनय अर्जुन के लिये स्वर्ग की कोई वस्तु अलभ्य कैसे हो सकती थी। सहस्रनेत्र ने तुरन्त गन्धर्व चित्रसेन को बुलवाया और उसे आदेश दिया – "चित्रसेन ! तुम सुन्दरी उर्वशी के पास जाओ और उसे मेरी इच्छा सूचित करो। वह कुमार अर्जुन की सेवा में उपस्थित हो उन्हें प्रसन्न करे।"

आज्ञा पाकर चित्रसेन वहाँ से उर्वशी के भवन की ओर आये। चित्रसेन को आया जान उर्वशी ने उनका ससम्मान सत्कार किया और उनके आने का प्रयोजन जानना चाहा।

चित्रसेन ने देवराज की आज्ञा उर्वशी को सुना दी। रवि-रश्मि के प्रथम स्पर्श से जैसे सरोज खिल उठता है, उसी प्रकार सुन्दरी उर्वशी का हृदय देवराज की आज्ञा सुनकर खिल उठा। उसकी अभिलाषा मानो पूर्ण हुई। इस शुभ सन्देश के लिये उर्वशी ने चित्रसेन को अनेक साधुवाद दिया।

धनञ्जय की रूप राशि पर मुग्ध अप्सरा को क्षण युगों से प्रतीत हो रहे थे। अत्यन्त व्यग्रता और व्याकुलता से वह दिवाकर के अस्ताचलगामी होने की बाट जोह रही थी। संध्या अभी रात्रि में प्रविष्ट भी न होने पाई थी कि रूप की साम्राज्ञी उर्वशी कुन्तीनन्दन अर्जुन के भवन की ओर चल पड़ी।

प्रलोभन के अभाव में स्वेच्छाचारी भी संयत प्रतीत होता है। प्रलोभन वह कसौटी है जिस पर संयम की दृढ़ता की परीक्षा होती है।

तपस्वी अर्जुन के तप और संयम की आज अग्नि-परीक्षा थी। विश्व का प्रबलतम प्रलोभन आज अर्जुन के संयम की परीक्षा लेने को कटिबद्ध था।

द्वारपाल ने सूचना दी – "इन्द्रकुमार ! द्वार पर सुन्दरी उर्वशी उपस्थित है। भवन में प्रवेश की आज्ञा चाहती है।"

कुछ क्षणों के लिये अर्जुन आश्चर्य-चकित रह गये। इस असमय में उर्वशी का उनके भवन में आगमन कैसा ! किन्तु दूसरे ही क्षण तपस्वी अर्जुन का विवेक जाग उठा।

उन्होंने स्वयं की ही भर्त्सना की – "छि: छि:, इसमें आश्चर्य कैसा? देवी उर्वशी तो पुरुवंश की जननी हैं" – इस विचार के आते वे लपक कर द्वार पर आ गये।

कुन्ती कुमार को देखते ही उर्वशी का हृदय मदन के शरों से विदीर्ण हो उठा। वह अलसा-सी गई और निर्निमेष दृष्टि से अर्जुन की ओर देखने लगी।

किन्तु यह क्या ! अर्जुन तो उसके चरणों पर मस्तक रखकर प्रणाम कर रहे हैं ! प्रणत से इन्द्रकुमार अर्जुन ने कहा – "देवि ! कहिये क्या आज्ञा है? आप मेरे लिये गुरु-पत्नी की भाँति पूज्य हैं। मैं आपका सेवक हूँ, आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ।"

अर्जुन का अनपेक्षित व्यवहार देखकर उर्वशी कुछ क्षणों के लिये स्तब्ध हो गई। किन्तु वासना के उद्दामी आवेग ने उसे पुन: उत्तेजित किया। उसने कहा – "कुन्ती कुमार, तुम ऐसा न कहो ! हम अप्सरायें स्वर्ग में सभी लिये अनावृत्त हैं। हमारा किसी एक व्यक्ति से कोई विशेष

सम्बन्ध नहीं होता। तुम मुझे स्वीकार करो।''

अर्जुन ने आँखें मूँद ली, कान बन्द कर लिये।

उर्वशी ने कुछ रोष से कहा – ''देवेन्द्रनन्दन! उस दिन जब तुम्हारे सम्मान में इन्द्रसभा में नृत्य का आयोजन हुआ था, तब तुम निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर क्यों देख रहे थे। क्या तुम मेरे रूप पर आकर्षित नहीं थे? क्या तुम्हारे मन में मुझे प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं थी?''

अर्जुन ने गद्गद्-कण्ठ से कहा – ''माता, तुम यह क्या कह रही हो? मैं तो निर्निमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर इस लिये देख रहा था कि तुम हमारे पुरुवंश की जननी हो।''

अर्जुन का सम्बोधन सुनकर उर्वशी का रोष क्रोध में भड़क उठा। क्रोध के आवेश में वह अपने हृदय की बात छिपा न सकी। काँपते शरीर और फड़कते ओठों से उसने कहा – ''कुन्ती कुमार! जब से मैंने तुम्हें देखा है, मेरा मन तुम पर आसक्त हो गया है। मैं इतने दिनों से तुम्हारे सान्निध्य के लिये लालायित थी। आज वह सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे उससे वंचित न करो। मुझे स्वीकार करो।''

अर्जुन ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा – ''कल्याणी! तुम जो कह रही हो उसे सुनना भी मेरे लिये पाप है। देवि! कुन्ती, माद्री और शची को मैं जिस दृष्टि से देखता हूँ, उसी दृष्टि से तुम्हें भी देख रहा हूँ। तुम्हारे चरणों पर मस्तक रखकर मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। माता, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। मेरी रक्षा करो! मुझे आशीर्वाद दो!''

काम के कलुषित धूम ने उर्वशी के विवेक को आच्छादित कर लिया था। कामांध उर्वशी की भोग-तृप्ति में अर्जुन के सन्तान-भाव ने अवरोध उत्पन्न कर दिया। इस अवरोध ने उर्वशी के हृदय की क्रोधाग्नि को और भी भड़का दिया। उसकी बुद्धि नष्ट हो गई और अर्जुन को शाप देकर उसने सदैव के लिये अपनी जाति को ही कलंकित कर लिया।

अनिंद्य सुन्दरी उर्वशी जिसके एक कटाक्ष के लिये देव-गण भी लालायित रहते थे, जिसके नयन-शरों ने बड़े-बड़े देवताओं को भी विदीर्ण कर दिया था, अर्जुन के समीप वह किसलिये पराभूत हो गयी? अर्जुन के पास ऐसा कौन-सा कवच था जिसने उनकी रक्षा की थी? यह 'रक्षा-कवच' था पवित्र मातृभाव – माता की वह पावन नाम, जिसे सुनकर वासनायें तिरोहित हो जाती हैं। वासना-पंक से मलिन मन इस मातृभाव की पूतसलिला जाह्नवी में अवगाहन कर निर्मल और शुद्ध हो जाता है। यह अक्षय 'रक्षा-कवच' आज भी कितने साधक-अर्जुनों की उर्वशियों से रक्षा कर रहा है। ❑

प्रभो ! मुझको यही वर दो

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

**खिले भिनसार-सा जीवन ,
प्रभो ! मुझको यही वर दो ।
मिले उपहारमय बनकर,
हृदय-घट प्रेम से भर दो ।।**

**तुम्हारे प्रेम-सागर की
मुदित मैं मीन हो जाऊँ,
तुम्हारे ही करों की मैं
सुरीली बीन हो जाऊँ,
प्र-भास्वर भाव से भावित
बसन्ती भाव को स्वर दो ।
खिले भिनसार-सा जीवन,
प्रभो! मुझको यही वर दो ।।**

**मिटी है प्यास किसकी ओस-
कण को चाटकर जग में,
सभी कुछ छूट जाता है,
मिला जो भी यहाँ मग में,
'तुम्ही हो सुख-सखा सबके' -
यही विश्वास अक्षर दो ।
खिले भिनसार-सा जीवन,
प्रभो ! मुझको यही वर दो ।।**

**कृपा की कोर पाये बिन,
न तुमको पा सका कोई,
तुम्हारी रहा को तजकर,
न आगे जा सका कोई,
भ्रमित भवलोक में हूँ मैं,
सुमतिमय ज्योतिमणि धर दो ।
खिले भिनसार-सा जीवन,
प्रभो! मुझको यही वर दो ।।**

**प्रणय की पुण्य बेला में
खिलें जग के सुमन सारे,
मिलन के मधु महोत्सव में
रहे कोई न मन मारे,
परम आनन्द के पथ पर
प्रणय को तुम प्रणव कर दो ।
खिले भिनसार-सा जीवन,
प्रभो! मुझको यही वर दो ।।**

भगवान दास बाबाजी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

पण्डित वैष्णवचरण श्रीमद्-भागवत के हृदयग्राही शब्दों की व्याख्या कर रहे थे और उसे सुनते हुए श्रीरामकृष्ण इतने भावविभोर हो गये कि वे अपने दिव्य आवेग को सँभाल नहीं सके। प्राय: अनजाने में ही वे आगे दौड़े और सामने बिछे हुए चैतन्यदेव के आसन पर खड़े हो गये। समस्त श्रोतागण इस अप्रत्याशित घटना से हक्के-बक्के रह गये, परन्तु विस्मय के साथ देखते रहे। श्रीरामकृष्ण अपने हाथ उठाये स्थिर खड़े रहे, उनकी दृष्टि नासाग्र पर स्थिर थी और श्वास-प्रश्वास प्राय: रुक चुकी थी। उनके ज्योतिर्मय मुखमण्डल पर एक अनिर्वचनीय आनन्द फैला हुआ था, जिसने वहाँ उपस्थित सभी लोगों के हृदय को अभिभूत कर लिया था। थोड़ी देर बाद ही श्रीरामकृष्ण अपनी सामान्य अवस्था में आ गये।

श्रीरामकृष्ण द्वारा कोलूटोला की हरिसभा[१] में चैतन्यदेव के आसन पर आरूढ़ हो जाने की इस घटना के औचित्य को लेकर निष्ठावान वैष्णवों के बीच चर्चा चल पड़ी। आपस में सहमति न बन पाने पर कुछ लोग इस मसले को लेकर कालना के माननीय वैष्णव-नेता भगवानदास बाबाजी के पास पहुँचे। श्रीचैतन्य के निष्ठावान भक्त बाबाजी ने दक्षिणेश्वर के परमहंस के इस कृत्य को पूरी तौर से अधर्म माना और इस तरह आसन पर अधिकार कर लेनेवाले को धूर्त तक कहा। ऐसी अप्रिय घटना भविष्य में दुबारा न घटे, इस हेतु उन्होंने स्थानीय नेताओं को सावधानी बरतने की भी सलाह दी।

श्रीरामकृष्ण इन बातों से पूर्णत: अनभिज्ञ थे। एक दिन उन्होंने मथुरबाबू से चैतन्यदेव के जीवन से सम्बद्ध नवद्वीप तथा कालना नामक स्थानों की तीर्थयात्रा पर ले चलने को कहा। मथुरबाबू तत्काल सहमत हो गये और निर्धारित दिन श्रीरामकृष्ण, हृदयराम तथा कुछ सेवक एक नौका में दक्षिणेश्वर से रवाना हुए। १८७० ई. का शीतकाल था। यह टोली कलकत्ते से अस्सी किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित कालना जा पहुँची। गाँव की देवी (श्री सिद्धेश्वरी काली) के नाम इसे अम्बिका-कालना भी कहते हैं। यह स्थान श्रीचैतन्य के पुनीत स्पर्श से धन्य है। बर्दवान के राज-परिवार द्वारा निर्मित एक सौ आठ शिव-मन्दिरों ने भी इस तीर्थ-स्थान की शोभा में चार चाँद लगा दिये हैं।

अगले दिन सुबह जिस समय मथुरबाबू टोली के निवास तथा भोजन की व्यवस्था में व्यस्त थे, श्रीरामकृष्ण हृदय को साथ लेकर धीरे से बाहर निकल गये। हृदयराम स्थानीय लोगों से पूछते हुए नगर के एक पुण्य स्थान श्री नामब्रह्म आश्रम की ओर चल पड़े। पीछे-पीछे श्रीरामकृष्ण भी आ रहे थे। श्री राधागोविन्द तथा श्री चैतन्यदेव के मन्दिर इस आश्रम के मुख्य आकर्षण थे। मन्दिरों के पीछे बाद में आश्रम के संस्थापक-मठाधीश भगवानदास बाबाजी का स्मारक बननेवाला था। आश्रम बहुत सम्पन्न तो नहीं था, तो भी उसमें एक गहरा कुँआ था, जिसके अन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं।[२] ऐसी प्रसिद्धि थी कि बाबाजी ने काफी लम्बे समय तक सबसे नीचे की सीढ़ी पर खड़े होकर जप-साधना की थी।

भगवानदास बाबाजी अपने त्याग, वैराग्य तथा ईश्वर-भक्ति के लिये बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। उनका गौर वर्ण, चोटी से युक्त मुण्डित मस्तक तथा सौम्य मुख-मण्डल एक आदरणीय धर्मनेता का आभास कराता था। वे एक दृढ़ इच्छाशक्ति-सम्पन्न तपस्वी के रूप में भी प्रसिद्ध थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाबाजी को उच्च आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, पर वे केवल उसी के लिये सम्मानित हुए हों ऐसी बात नहीं; वैष्णव समुदाय के धार्मिक मामलों में विवादों का निपटारा करने और लोगों के आचरण के लिये नियमों के निर्धारण में उनका निर्णय अन्तिम माना जाता था।[३] यद्यपि वातरोग ने उनके पाँवों को लगभग पंगु बना दिया था, तथापि भक्ति-संगीत के साथ होनेवाले नृत्य को देखकर उनके हृदय में तीव्र आध्यात्मिक भावों की लहरें उठने लगती थीं। इसके फलस्वरूप वे अपनी शारीरिक अवस्था को भूल जाते और भगवन्नाम लेते हुए स्वयं भी नृत्य[४] करने लगते और बहुधा इसका अवसान आनन्दपूर्वक अश्रुपात् में होता। तो भी भावों की बाह्य अभिव्यक्ति को वे अच्छा नहीं मानते थे और अपने समकालीन नवद्वीप के चैतन्यदास बाबाजी द्वारा भावों के प्रदर्शन की निन्दा किया करते थे। प्रत्येक वैष्णव के समान ही वे भी स्वयं को भगवान का एक विनम्र सेवक मानते थे और (फटे हुए वस्त्रों को सिलकर निर्मित) एक कन्था ओढ़े रहते थे। इस कारण लोग उन्हें कन्थारामदास बाबाजी[५] के नाम से भी जानते थे। कहते हैं कि दूरदर्शन की सिद्धि से सम्पन्न बाबाजी ने एक बार जप करते समय एक दिव्य-दर्शन में देखा

कि वृन्दावन में गोविन्दजी के मन्दिर के प्रांगण में लगे तुलसी के पौधों को एक बकरी खा रही है। अपने परिवेश को भूलकर बाबाजी वहाँ आनेवाले एक आगन्तुक पर ही चिल्ला उठे। वह आगन्तुक बर्दवान के राजा थे, जो उन्हीं का दर्शन करने आये हुए थे। अपने इस कटु स्वागत के कारण वे वापस लौट गये। बाद में इस घटना के विषय में पूछताछ करने पर असन्दिग्ध रूप से यह प्रमाणित हुआ कि महात्मा को दूरदर्शन की सिद्धि प्राप्त है और वे सिद्ध[६] के नाम से भी प्रसिद्ध हो गये।

भगवानदास गोस्वामी का जन्म उड़ीसा के एक अज्ञात गाँव में हुआ था। अपनी युवावस्था में गोवर्धन के सुप्रसिद्ध वैष्णव सन्त कृष्णदास बाबाजी से मिलने के लिये वे पूरे रास्ते पैदल चलकर वृन्दावन पहुँचे और उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। अपने गुरुदेव के निर्देश पर वे ध्यान-भजन में कुछ वर्ष बिताने के निमित्त खड़दह[७] के निकट जसोरा गाँव में रहने के लिये बंगाल आये और आखिरकार अम्बिका-कालना गाँव में निवास करने लगे।

इन सन्त का दर्शन के लिये जाते समय श्रीरामकृष्ण ने अपना शरीर तथा सिर एक लाल ऊनी चादर से ढँक रखा था और हृदय ने एक कीमती शाल ओढ़ रखा था। सबसे पहले हृदय ने ही आश्रम में प्रवेश किया और देखा कि भगवानदास बाबाजी माला जप रहे हैं। उन्होंने सुना, बाबाजी कह रहे थे – "मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आश्रम में किसी महापुरुष का आगमन हुआ है।" बाबाजी ने चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखा, परन्तु उन्हें केवल हृदय ही दिखाई दिया। हृदय उन्हें प्रणाम करके नीचे बैठ गये। बाबाजी अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा सहज ही समझ गये कि यह व्यक्ति वह अपेक्षित महापुरुष नहीं है। उन्होंने हृदय से पूछा – "तुम कहाँ से आ रहे हो?"

हृदय – "कलकत्ते से।"

बाबाजी – "हाँ, कलकत्ते से कालना-अम्बिका आनेवाले प्राय: सभी लोग यहाँ भी आया करते हैं।"

हृदय – "निश्चय ही आयेंगे। आपके समान सन्त से मिले बिना भला कौन लौट सकता है!"

लगता है कि हृदय के इन शब्दों से बाबाजी को प्रसन्नता हुई। उनके होठों पर एक हल्की सी मुस्कान फैल गयी। बाबाजी किसी वैष्णव-साधु के अनुचित आचरण पर असन्तोष व्यक्त कर रहे थे। अपने सम्प्रदाय के एक साधु के विपरीत आचरण पर नाराज होकर अपराधी का तिरस्कार करते हुए बोले – "सचमुच, वह अभिमान से बड़ा फूल गया है। हम उस दुष्ट की कण्ठी-माला छीनकर सम्प्रदाय से बाहर निकाल देंगे।" जब उनके मुख से ये उद्‌गार निकल रहे थे, ठीक तभी श्रीरामकृष्ण ने कक्ष में प्रवेश किया। उन्होंने बाबाजी को प्रणाम किया और एक किनारे अन्य आगन्तुकों के साथ बैठ गये। हृदय ने श्रीरामकृष्ण का परिचय कराते हुए बताया – "ये मेरे मामा हैं। ईश्वर के नाम से विह्वल हो उठते हैं; इनकी बहुत दिनों से ऐसी स्थिति है। आपका दर्शन करने के लिये आये हैं।"

श्रीरामकृष्ण तथा बाबाजी – दोनों की ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी; इस समानता के अतिरिक्त अन्य हर दृष्टि से दोनों पूर्णत: भिन्न थे। बाबाजी की आयु अस्सी साल के ऊपर थी और वे एक तपस्वी तथा कठोर अनुशासन के समर्थक थे। उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय के नेतृत्व का भार स्वयं अपने कन्धों पर ले रखा था। उनके विपरीत श्रीरामकृष्ण की आयु चौतीस वर्ष की थी और उनका व्यवहार एक बच्चे के समान निश्छल तथा सहज-स्वाभाविक था। श्रीरामकृष्ण विनम्र तथा आडम्बर -हीन थे और उनमें अहंकार का लेश मात्र तक नहीं था। उनका पूरा स्वभाव देवतुल्य था; वे सर्वदा ईश्वरीय-चेतना में रहते थे और केवल ईश्वर की ही चर्चा किया करते थे।

बाबाजी को माला जपते देखकर हृदय ने पूछा – "आप अब भी माला क्यों जपते हैं? आप तो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, अब इसकी क्या जरूरत है?" इस पर विस्मित होकर बाबाजी बोले – "मेरे अपने लिए आवश्यक न होने पर भी लोकशिक्षा के निमित्त इनको रखना परम आवश्यक है, अन्यथा लोग मेरे आचरण को देखकर अनुकरण करते हुए भ्रष्ट हो जायेंगे।"

भगवानदास बाबाजी जैसे विख्यात महात्मा के मुख से इस तरह की अहंकारयुक्त बातें सुनकर श्रीरामकृष्ण विस्मित तथा असन्तुष्ट हो गये। अब उनके लिये बैठे रहना असम्भव हो गया। वे तत्काल खड़े हो गये और उनकी ओर उन्मुख होकर कहने लगे, "अच्छा, अभी तक तुम्हारे भीतर इतना अहंकार भरा है? तुम लोकशिक्षा दोगे? दूसरे को निकाल दोगे? तुम त्याग तथा ग्रहण करना चाहते हो? लोकशिक्षा देनेवाले तुम कौन हो? जिनका यह संसार है, उनके सिखाये बिना तुम सिखाना चाहते हो?"[९] अपनी उत्तेजना के लुप्त होने के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण गहरी समाधि में डूब गये। उस समय उनका चादर नीचे गिर चुका था, कमर का वस्त्र भी शिथिल होकर गिर गया था। बाह्य जगत् से बेखबर वे समाधिस्थ खड़े रहे और उनका मुखमण्डल एक दिव्य तेज से उद्‌भासित हो उठा! बाबाजी तथा अन्य लोग आश्चर्यचकित हो ठगे-से श्रीरामकृष्ण में आनेवाले परिवर्तनों को देख रहे थे; वे लोग एक ऐसे अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगे, मानो किसी दिव्य धाम में पहुँच गये हों।

बाबाजी के लिये तो यह एक बिल्कुल ही नये प्रकार का अनुभव था। इतने वर्षों तक वे सभी लोगों से उच्च प्रशंसा तथा गहन श्रद्धा-सम्मान पाने के ही अभ्यस्त थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण के इन शब्दों ने बाबाजी का हृदय विदीर्ण कर दिया। इन शब्दों ने वृद्ध महात्मा को अपने दोषों पर विचार करने को बाध्य किया। यदि कोई साधारण व्यक्ति होता, तो वह ऐसी परिस्थिति में स्वयं को कटु भावों की अभिव्यक्ति से

नहीं रोक पाता, परन्तु बाबाजी ने अपनी दीर्घ काल की साधना के बल से स्वयं को तत्काल सँभाल लिया। अहंकार के कारण उनकी जो अन्तर्दृष्टि कुछ काल के लिये धुँधली हो गयी थी, अब श्रीरामकृष्ण की तीक्ष्ण वाणी से वह प्रस्फुटित हो उठी और उनमें विनय तथा नम्रता का भाव आ गया। जब तक वे स्वयं को सँभाल पाते, उसके पहले ही श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में उच्च आध्यात्मिक भावों की असाधारण अभिव्यक्ति को देखकर वे विस्मित रह गये। बाबाजी ने भाव-समाधि के विषय में जो कुछ शास्त्रों में पढ़ रखा था, उसे आज वे अपने सामने प्रत्यक्ष देख रहे थे। श्रीरामकृष्ण के मोहक रूप से बाबाजी को श्रीचैतन्य की याद आ गयी। बाद में उन्हें एक और भी अधिक विस्मयकर जानकारी मिली। कुछ देर बाद बाबाजी को पता चला कि श्रीरामकृष्ण ही वे व्यक्ति हैं, जो कोलूटोला की हरिसभा में श्रीचैतन्य के आसन पर आरूढ़ हुए थे।

हृदय को सम्बोधित करके बाबाजी खेद प्रगट करते हुए बोले – "आज मुझसे एक पाप हो गया है। इन महापुरुष को न पहचान पाने के कारण ही मैं इन्हें भला-बुरा कह बैठा। यदि इन्होंने क्षमा न किया, तो कौन जाने मेरा क्या होगा! मुझे नहीं मालूम था कि श्री चैतन्यदेव ने पुन: अवतार लिया है और हरिसभा में अपना आसन ग्रहण कर लिया है। कृपया मुझे बताइये कि मैं किस प्रकार अपने द्वारा किये पाप से छुटकारा पा सकता हूँ?" हृदय ने उन्हें आश्वस्त किया श्रीरामकृष्ण कृपा तथा अनुग्रह की प्रतिमूर्ति हैं और उन्हें उनसे किसी भी कारण से भयभीत नहीं होना चाहिये। यह आश्वासन पाकर बाबाजी सामान्य अवस्था में आ गये और दण्डायमान श्रीरामकृष्ण की सात प्रदक्षिणाएँ करने के बाद उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया।[१०] थोड़ी देर बाद हृदय ने भगवन्नाम का उच्चारण किया, जिसकी सहायता से श्रीरामकृष्ण का मन समाधि अवस्था से नीचे उतर आया। वे फुसफुसाते हुए कह रहे थे – "इस समय मैं कहाँ हूँ।"

हृदय – "आप भगवानदास बाबाजी से मिलने आये हुए हैं। यह उनका आश्रम है।" हृदय द्वारा इन शब्दों के उच्चारण के दौरान ही श्रीरामकृष्ण पुन: सामान्य चेतना के स्तर पर लौट चुके थे। उन्होंने बाबाजी से पूछा – "क्या आप ही भगवानदास हैं?"

बाबाजी – "मैं आपका दास हूँ, महाराज।"

हृदय ने अपना ओढ़ा हुआ शाल उतारा और उसे तह करके फर्श पर बिछा दिया। श्रीरामकृष्ण उस पर बैठ गये। विनम्र तथा भक्तिमान् बाबाजी ने अपने क्रोध के लिये श्रीरामकृष्ण से बारम्बार क्षमा-याचना की। बाबाजी ने उन्हें खाने के लिये मिठाइयाँ दीं। उन्होंने उसमें से थोड़ा-सा खाया। इसके उपरान्त श्रीरामकृष्ण तथा बाबाजी ने किन्हीं आध्यात्मिक विषयों पर बड़े आनन्दपूर्वक चर्चा की। हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि अन्य स्थानों के समान ही यहाँ भी श्रीरामकृष्ण वक्ता थे और बाबाजी तथा अन्य उपस्थित लोग श्रोता थे।

दस बजे श्रीरामकृष्ण ने बाबाजी से विदा ली और नौका में लौटे। इसी बीच मथुरबाबू भी आश्रम में पहुँचे और उन्हें पता चला कि श्रीरामकृष्ण जा चुके हैं। भगवानदासजी ने मथुरबाबू से कहा – "वे केवल एक महापुरुष ही नहीं, श्री चैतन्यदेव के अवतार हैं। मेरा परम सौभाग्य है कि आज मैं उनसे मिल सका। अभी कुछ ही क्षणों पूर्व वे यहाँ से विदा हुए हैं।" मथुरबाबू ने बाबाजी को प्रणाम करके उन्हें प्रणामी के रूप में दस रुपये दिये।

वहाँ से लौटने के बाद श्रीरामकृष्ण ने मथुरबाबू के समक्ष बाबाजी तथा उनकी उच्च आध्यात्मिक अवस्था की खूब प्रशंसा की। श्रीरामकृष्ण की सलाह पर मथुरबाबू भी एक दिन उस 'नाम-ब्रह्म-आश्रम' में गये और वहाँ उन्होंने काफी धन व्यय करके देव-विग्रहों की सेवा तथा एक विशेष महोत्सव का आयोजन कराया।[११]

उनकी यह मुलाकात स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने, न केवल सामान्य जन को ईश्वर की ओर अभिमुख होने में सहायता की, अपितु भगवानदास जी जैसे अति उन्नत साधकों को भी उनकी कमियों पर विजय दिलाकर अध्यात्म के पथ पर अग्रसर कराते हुए पूर्णता की प्राप्ति में सहायता की। श्रीरामकृष्ण ने कभी किसी के धर्मभाव या आदर्श का विरोध नहीं किया। धनी-निर्धन, विद्वान्-अपढ़ – जो कोई भी उनके पास आया, वे उसे उसके अपने आध्यात्मिक रुझान के अनुसार धर्मपथ पर अग्रसर कराते हुए पूर्ण उपलब्धि के लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता किया करते थे।

श्रीरामकृष्ण बाबाजी के मन पर जो गहरी छाप छोड़ गये थे, वह उनकी आयु के अन्तिम वर्ष तक दिखायी पड़ता है। इस महत्त्वपूर्ण भेंट ने बाबाजी को श्रीरामकृष्ण की महान् आध्यात्मिकता के विषय में असन्दिग्ध कर दिया था। उनके इस रूपान्तरण के फलस्वरूप पूरा वैष्णव समुदाय श्रीरामकृष्ण को बड़े आदर की दृष्टि से देखने लगा।[१२] इस घटना के चौदह वर्ष बाद १८८४ ई. में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के सुप्रसिद्ध लेखक श्री 'म' बाबाजी का दर्शन करने गये और लौटकर श्रीरामकृष्ण को बताया, "मैं कालना गया था। भगवानदास (बाबाजी) बहुत वृद्ध हो गये हैं, रात में भेंट हुई थी। जाजिम पर लेटे हुए थे। एक आदमी प्रसाद ले आया और खिलाने लगा। जोर से बोलने पर सुनते हैं। आपका नाम सुनकर कहने लगे, 'तुम लोगों को अब क्या चिन्ता है?' "[१३]

सन्दर्भ-सूची –

१. उक्त 'हरिसभा' कालीनाथ दत्त के घर में आयोजित हुई थी। उन्हें कालीनाथ धर भी कहते थे।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

गीता में क्रोध-निवारण के उपाय

डॉ. प्रभुनारायण मिश्र

सामान्य मनुष्य के मन में प्रेम, क्षमा, दया, करुणा और सहानुभूति जैसे सकारात्मक भाव कम आते हैं, जबकि ईर्ष्या, लोभ, मोह और क्रोध जैसे नकारात्मक भाव अधिक आते हैं। विचारों की अपनी तरंगें होती हैं। इन तरंगों के माध्यम से विचार एक स्थान से दूसरे स्थान तक और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचते रहते हैं। विज्ञान भी अब इस अवधारणा का समर्थन करने लगा है। यदि किसी व्यक्ति के प्रति आप प्रेम और मित्रता का विचार रखेंगे, तो धीरे-धीरे वह व्यक्ति आपका मित्र बन जाएगा। इसी प्रकार यदि आप किसी के प्रति शत्रुता और ईर्ष्या का भाव रखेंगे, तो कालान्तर में वह व्यक्ति आपका शत्रु बन जाएगा; भले ही बाहरी तौर पर आप उस व्यक्ति के साथ कितने भी अच्छे व्यवहार का दिखावा क्यों न कर रहे हों।

मनुष्य अपने भावों और विचारों का विकिरण – फैलाव भी करता रहता है। किसी समुदाय में एक प्रसन्नचित्त व्यक्ति सबको प्रसन्नचित्त बना देता है तथा दुखी व्यक्ति अपने दुख को अन्य लोगों में भी सम्प्रेषित कर देता है। किसी संगठन का मुखिया यदि क्रोधी और अशान्त हो, तो सम्पूर्ण संगठन को अशान्त बना डालता है। एक सृजनशील, शान्त और प्रसन्न मुखिया अपने परिवेश को भी वैसा ही बना देता है। नकारात्मक विचार और भाव चारों ओर नकारात्मक ऊर्जा का ही प्रसार करेंगे, जिससे पूरा वातावरण प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगा। नकारात्मक विचार हमसे मूल्य वसूल करते हैं। मन इनसे अशान्त रहता ही है। मात्र इतना ही नहीं नकारात्मक विचारों की कीमत हमें कई अन्य स्तरों पर भी चुकानी पड़ती है। नकारात्मक विचार और भाव हमें सामाजिक रूप से अलोकप्रिय एवं असम्मानित भी बनाते हैं, इनका हमारे स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। नकारात्मक विचारों में क्रोध, ईर्ष्या, लोभ तथा भय आदि भावों की काफी प्रचण्डता रहती है। नकारात्मक भावों और विचारों का परिमार्जन हर समझदार व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। नकारात्मक मनोवेगों का नियंत्रण एक पेंचीदा मसला है।

आधुनिक मनोविज्ञान तथा श्रीमद्-भगवद्-गीता में मनोभावों के परिष्कार के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। यहाँ आधुनिक मनोविज्ञान में बताई गई विधियों की चर्चा न करके गीता में वर्णित कुछ विधियों का उल्लेख किया जा रहा है। मनोवैज्ञानिक विधियों की चर्चा न करने के अपने कारण हैं। मनोविज्ञान स्वत: अपरिपक्व अवस्था में है और इसने अनेकों बार अपनी ही मान्यता का खण्डन किया है। यदि मसला अपने जीवन का हो, तो हमें अपेक्षाकृत परिपक्व विधियों का ही प्रयोग करना चाहिए। गीता पाँच हजार से भी अधिक वर्षों से लोगों का मार्गदर्शन कर रही है। अत: यह आधुनिक मनोविज्ञान की तुलना में कहीं अधिक भरोसेमन्द है। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक विधियों में कुछ अन्य खामियाँ भी हैं। मनोविज्ञान के अनेक निष्कर्ष असामान्य लोगों, पागलों और जानवरों पर प्रयोग करके निकाले गए हैं। उन निष्कर्षों को स्वस्थ सामान्य मनुष्यों पर लागू करना उचित नहीं है। निष्कर्ष निकालने के लिए जिन शोध-विधियों का प्रयोग किया गया है, वे भी शत-प्रतिशत त्रुटिविहीन नहीं है। अत: मनोविज्ञान में बताई गई विधियों का प्रयोग न करके हम अपने जीवन के लिए गीता की बताई विधियों का प्रयोग करना चाहेंगे। गीता हजारों वर्षों से लोगों का सफल मार्गदर्शन करती रही है तथा मनोवैज्ञानिक विधियों पर अभी तक एक राय कायम नहीं हो सकी है।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

२. उद्बोधन (बँगला मासिक), चैत्र १३६७ बंगाब्द, पृ. १४७-५०
३. स्वामी सारदानन्द लिखते हैं – "वहाँ का वैष्णवसमाज उनके द्वारा विशेष सजीव हो उठा था। ... महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के प्रेमधर्मसम्बन्धी किसी विषय में बाबाजी अपना जो अभिमत प्रकट करते, उसी को ध्रुवसत्य मानकर लोग उसका आचरण करने में प्रवृत्त होते थे। (श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, द्वितीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. ३६१)
४. रामचन्द्र दत्त, श्रीश्री रामकृष्ण परमहंस देवेर जीवन-वृत्तान्त (बँगला ग्रन्थ), सप्तम सं., पृ. ६६
५. उद्बोधन (बँगला मासिक), वही, पृ. १५०
६. हरिदास दास, श्रीश्री गौड़ीय-वैष्णव जीवन (बँगला), भाग २, पृ. १९४
७. श्री गौड़ीय वैष्णव अभिधान (बँगला), पृ. १९३२
८. गुरुदास बर्मन के मतानुसार श्रीरामकृष्ण तथा हृदयराम – दोनों एक साथ ही वहाँ पहुँचे। हृदयराम ने ही बातचीत आरम्भ ही, वैसे श्रीरामकृष्ण ने उन्हें वैसा न करने का निर्देश दे रखा था।
९. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग (द्वितीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. ३१८)
१०. गुरुदास बर्मन, श्री श्री रामकृष्ण चरित (बँगला ग्रन्थ), पृ. १६९;
११. गुरुदास बर्मन (१७१) के मतानुसार मथुरबाबू ने कोई भोज नहीं दिया था, बल्कि बाबाजी के पास ९० रुपये की राशि भेज दी थी। बाबाजी ने उसे श्री चैतन्यदेव के ही कृपा-प्रसाद के रूप में उसे स्वीकार कर लिया था और उसे आश्रम के कुछ कुटीरों की मरम्मत कराने में व्यय करने का निर्णय लिया था।
१२. अक्षय कुमार सेन, श्रीश्रीरामकृष्ण पुंथी, बँगला, सं.५, पृ. १७३
१३ श्रीम, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ५१६

एक उदाहरण लें – क्रोध एक प्रचण्ड मनोवेग है। हर व्यक्ति कभी-न-कभी इसका शिकार अवश्य हुआ रहता है। अध्यात्म और मनोविज्ञान – दोनों ने इसके नियंत्रण के लिए उपाय बताए हैं। मनोवैज्ञानिक उपायों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं – क्रोध को दबा दीजिए और क्रोध को व्यक्त कर दीजिए। चिकित्सकों का मत है कि क्रोध को दबाने से अनेक मनो-शारीरिक रोग पैदा होते हैं। क्रोध को व्यक्त कर देने से कुछ राहत अवश्य प्रतीत होती है। जैसे खौलते पानी भरे डिब्बे का ढक्कन खोलते ही भाप निकल गई हो। परन्तु एक बार भाप निकलने से इसकी क्या गारण्टी कि दुबारा भाप बनेगी ही नहीं? यदि आप गुस्से को बार-बार व्यक्त करेंगे, तो वह आपकी आदत बन जाएगी। और एक बार आदत बन जाने के बाद गुस्से से मुक्त होना अत्यन्त कठिन होगा। अत: गुस्से को नियंत्रित करने के लिए उसे दबाना या व्यक्त करना – दोनों ही उचित नहीं है।

क्रोध हमारा एक प्रमुख शत्रु है। ऐसा हो नहीं सकता कि श्रीकृष्ण का ध्यान इस ओर न गया हो। गीता में कई स्थानों पर क्रोध का उल्लेख हुआ है। गीता के दूसरे अध्याय के ६२वें और ६३वें श्लोकों में श्रीकृष्ण क्रोध उत्पन्न होने का कारण, उससे होनेवाली हानि और क्रोध को नियंत्रित करने के उपायों पर प्रकाश डालते हैं। श्लोक इस प्रकार है –

ध्यायते विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

– अर्थात् विषयों का निरन्तर ध्यान करते-करते व्यक्ति के मन में जागतिक विषयों के प्रति रस उत्पन्न होता है। इस रस के कारण मनुष्य के मन में विषयों के प्रति इच्छा जागती है। इच्छापूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अभिभूत होने पर मूढ़भाव जाग्रत होता है। मूढ़ भाव से स्मृति लुप्त हो जाती है। स्मृति-लोप से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नष्ट होने के फलस्वरूप मनुष्य स्वयमेव नष्ट हो जाता है।

यदि आप क्रोध से मुक्त होना चाहते हैं, तो विषयों के प्रति मन में रस ही न उत्पन्न होने दें। यदि विषयों के प्रति कुछ अनुराग उत्पन्न हो ही गया है, तो उनकी इच्छा न उत्पन्न होने दें। इच्छापूर्ति में बाधा से ही क्रोध उत्पन्न होता है। इच्छाओं का गणित विचित्र है। एक इच्छा पूर्ण होते ही अनेक अन्य इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिसमें से अधिकांश का पूर्ण होना सम्भव नहीं होता। अत: क्रोध की उत्पत्ति होती है। ये हमारी आकांक्षाएँ ही हैं, जो क्रोध के रूप में परिणत हो जाती हैं। हमने सबसे आकांक्षाएँ पाल रखी हैं – साथियों से, परिवार से, समाज से तथा सड़क पर चल रहे अपरिचित लोगों से भी। ये आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं होतीं और हम क्रोध के शिकार हो जाते हैं। सड़क पर चल रहे अपरिचित लोगों से भी हमने उम्मीदें पाल रखी हैं। यथा – वे यातायात के नियमों का पालन करेंगे, सड़क को गन्दा नहीं करेंगे, आदि आदि। हमारी आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं होतीं और क्रोधग्रस्त होकर हम अपनी मानसिक शक्तियों की आहुति दे देते हैं। अत: क्रोध को समाप्त करने के लिए आकांक्षाओं को समाप्त करिये। जब भी आप क्रोध के शिकार हों, अपना खुद का विश्लेषण करिए और पता लगाइये कि किस अपूर्ण आकांक्षा के कारण क्रोध आया। इस प्रकार एक-एक करके इच्छाओं को समाप्त करते जाइये। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि इच्छाएँ समाप्त हो गईं, तो हम कार्य क्यों करेंगे? वस्तुत: हमारे कार्य हमारे शुभ संकल्पों की शक्ति से संचालित होने चाहिए, न कि इच्छाओं के अनियंत्रित प्रवाह से।

मनोवेगों के नियंत्रण और परिमार्जन के लिए गम्भीर प्रयास की जरूरत पड़ती है। कुछ मनोवेग व्यक्त करने योग्य होते हैं और कुछ नहीं। प्रेम, मैत्री, करुणा आदि मनोवेग व्यक्त करने योग्य हैं; परन्तु घृणा, ईर्ष्या, क्रोध ऐसे मनोवेग हैं, जिन्हें व्यक्त करना उचित नहीं। परन्तु साथ ही इनको दबाना भी उचित नहीं है। इन्हें तो पूरी तौर पर जड़ से उखाड़ना चाहिए। इन्हें समूल समाप्त करने के तथा मन को नियंत्रित करने के अनेक उपाय गीता में बताए गए हैं। ये उपाय हैं – ध्यान करना, आहार को सात्त्विक तथा शुद्ध रखना, मन में सद्‌विचारों को जाग्रत करना, परमात्मा का चिन्तन करना तथा उनके प्रति समर्पण भाव रखना आदि आदि। ऐसे उपाय मनोभावों को नियंत्रित और शुद्ध रखने में सहायक होते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में एक-से-एक सरल उपाय बताये हैं। हमें अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार उपाय का चुनाव करके सतत उसका अभ्यास करना चाहिए।

❑❑❑
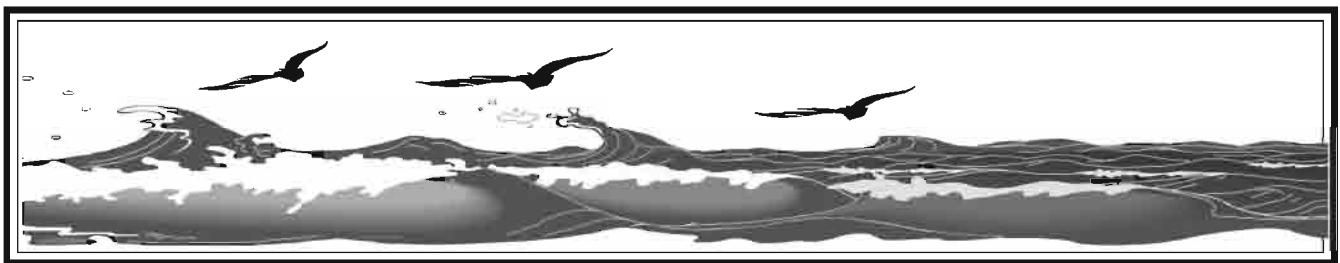
किशनगढ़ का राहत-कार्य

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

(पिछले अंक में हमने देखा कि कैसे १८९९ में राजपुताने में आये अकाल की सूचना पाकर स्वामीजी के शिष्य किशनगढ़ जाकर पीड़ितों की सेवा करने लगे। आगे का विवरण इस प्रकार है –)

उद्बोधन (पाक्षिक) में तीसरा समाचार

१९०० ई. के अप्रैल में 'राजपुताना-अनाथालय' शीर्षक के साथ अगली सूचना छपी – "बेलूड़ मठ से स्वामी सारदानन्द ने उक्त अनाथालय का संक्षिप्त विवरण तथा हिसाब उद्बोधन में मुद्रणार्थ भेजा है – "राजपुताना के अन्तर्गत किशनगढ़ राज्य में १८९९ ई. के दिसम्बर महीने से रामकृष्ण मिशन के स्वामी कल्याणानन्द दुर्भिक्ष का कष्ट दूर करने हेतु प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने आश्रम के नवम्बर १८९९ से मार्च १९०० तक के आय-व्यय का लेखा सर्व-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु उद्बोधन को भेजा है। माननीय किशनगढ़ दरबार तथा वहाँ के दीवान बाबू श्यामसुन्दर लाल जी निरन्तर उक्त अनाथालय के कार्य में सहयोग करते आ रहे हैं और इसके लिए हमारे कृतज्ञता के भाजन हुए हैं। दुर्भिक्ष-पीड़ित अनाथों के रहने के लिए कुछ महीनों के लिए राज-दरबार से दो भवन नि:शुल्क प्राप्त हुए हैं। सतत रखवाली के लिए दरबार ने एक सिपाही की नियुक्ति की है। इसके अतिरिक्त रसोई बनाने के लिए लगनेवाली प्राय: सारी लकड़ी अब तक हमें मुफ्त प्रदान की गयी है। अन्य छोटे-मोटे विषयों में भी काफी सहायता मिली है, यथा – पिछले दिसम्बर में उपयोग के लिए बहुत-सी रजाइयाँ तथा दरबार के भण्डार से अल्प मूल्य में अनाथाश्रम के लिए चावल-दाल आदि प्राप्त हुए। दुर्भिक्षाश्रम में इस समय ८५ बालक-बालिकाएँ और उनकी देखभाल के लिए बेलूड़ मठ के एक संन्यासी तथा ब्रह्मचारी हैं। इनमें ५५ बालक तथा बाकी ३० बालिकाएँ हैं। किशनगढ़-दरबार ने आश्रम की स्थापना के समय स्वामी कल्याणानन्द तथा स्वामी स्वरूपानन्द से कहा था कि इन सभी बालक-बालिकाओं में से जो सचमुच ही मातृपितृहीन असहाय हैं और जो अन्य स्थानों से असहाय दशा में किशनगढ़ आये हैं, दुर्भिक्ष-कार्य समाप्त हो जाने पर उन्हें किसी उचित स्थान में ले जाकर हम लोग एक अनाथाश्रम की स्थापना करेंगे। इस विषय में जो कुछ होगा, उससे हम बाद में अवगत करायेंगे।

"गत मार्च महीने तक भारत के विभिन्न स्थानों से जिन लोगों ने इस सत्कार्य के लिए सहायता की है, उनके नाम-धाम तथा सहायता-राशि का विशेष कृतज्ञता के साथ हम नीचे स्वीकार कर रहे हैं। इनमें से कइयों का नाम पूर्व के उद्बोधन में प्रकाशित हो चुके हैं। (लम्बी तालिका है, जिनमें से मुख्य दाता या संग्राहक हैं – अद्वैताश्रम, मायावती ३०० रु.; भारती-सम्पादक, कलकत्ता ८६ रु.; अमेरिका से प्राप्त २८८ रु.; नाथूभाई, बम्बई २५ रु.; धार्सीभाई, कलकत्ता ३० रु.; हरिचरण दत्त, इलाहाबाद २५ रु.; प्रतिवासी-सम्पादक, कलकत्ता २५ रु.; कुल आय – ९६० रुपये १० आने। व्यय का भी ब्यौरा है।)

"कल्याणानन्द स्वामी का कहना है कि दुर्भिक्ष का प्रकोप अभी भी कम नहीं हुआ है और जलाभाव के कारण आश्रमवासियों को काफी कष्ट हो रहा है। कम-से-कम अगले जून माह तक आश्रम से दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करनी होगी। एक-दो महीने और भी कर पाने से अच्छा होगा। इसके लिए सहृदय जनता की सहानुभूति तथा सहायता प्रार्थनीय है। ईश्वर की कृपा से यह दुष्काल भारत से शीघ्र दूर हो, यही प्रार्थना है।

"अमेरिका के सहायक मित्रों का नाम-धाम बाद में प्रकाशित करने की इच्छा है।

मठ, बेलूड़। ***(हस्ताक्षर) स्वामी सारदानन्द***

२६ अप्रैल, १९००

"सरकार की ओर से फैमिन कमिश्नर साहब – मेजर जे. आर. डनलप स्मिथ ने गत फरवरी में उक्त आश्रम को देखकर जो रिपोर्ट लिखा, उसका अविकल अनुवाद निम्न-लिखित है – '२८ दिसम्बर को दरबार द्वारा नगर में एक अनाथालय खोला गया। अब यह दीवान की देखरेख में पूरी तौर से बंगाल के रामकृष्ण मिशन द्वारा चलाया जा रहा है।

ये लोग वेदान्ती मिशनरी हैं। इस मिशन के प्रमुख स्वामी विवेकानन्द और इसके दो मुख्य केन्द्रों में से एक कलकत्ते में तथा दूसरा अल्मोड़ा के पास मायावती में है। इन दो मिशनरियों (संन्यासियों) में से एक दफ्तर का काम चलाते हैं। एक पूर्णकालिक कंपाउंडर हैं। दो मेहतर तथा दो पानी ढोनेवाले हैं। एक ब्राह्मण तथा उनकी पत्नी रसोई का सारा काम करते हैं और एक वृद्धा बालिकाओं की देखभाल करती है। इस समय अनाथालय में ५४ बालक तथा २३ बालिकाएँ हैं, जिन्हें दो अलग भवनों में रखा गया है। खाने को सुबह उन्हें खिचड़ी दिया जाता है और शाम को रोटी तथा दाल। दोपहर में उन्हें एक मुट्ठी भुना हुआ चना भी दिया जाता है। मैंने लगातार तीन दिनों के स्टोर-रजिस्टर की जाँच की और पाया कि हर बच्चा लगभग सवा आठ छटाक भोजन पाता है। बच्चे अच्छी हालत में हैं और लगता है कि उनका हर तरह से ध्यान रखा जाता है। सभी बड़े प्रसन्न हैं। ५ बालक तथा ५ बालिकाएँ कपड़े के मिलों में काम करती हैं और १० बच्चे गलीचे की फैक्ट्री में नियुक्त हैं। यहाँ उपयोग में आनेवाला सारा आटा बालिकाओं द्वारा ही पीसा जाता है।''

कैम्प (हस्ताक्षर) जे, आर, डनलप स्मिथ
१ मार्च, १९०० मेजर,
फैमिन कमिश्नर''[५]

उद्‌बोधन (पाक्षिक) में चौथा संवाद

अगली सूचना 'रामकृष्ण मिशन' शीर्षक के साथ छपी है – ''रामकृष्ण मिशन के अन्तर्गत किशनगढ़ अनाथाश्रम के मार्च तक के आय-व्यय की तालिका इसके पूर्व ही सर्व-साधारण के समक्ष प्रस्तुत की जा चुकी है। नीचे उक्त आश्रम तथा खण्डवा आश्रम का संक्षिप्त विवरण तथा अप्रैल व मई माह का कुल आय-व्यय सूचित किया जा रहा है –

पिछले मई माह से मध्य-प्रदेश के खण्डवा नामक स्थान में एक और दुर्भिक्ष-मोचन आश्रम खोला गया है। ...

उक्त दोनों स्थानों में दुर्भिक्ष का प्रकोप जरा भी कम न होकर, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। किशनगढ़ में अनाथ बालक-बालिकाओं की संख्या अब १२५ हो चुकी है। ... दोनों ही स्थानों में पानी का बड़ा अभाव है और अब तक वर्षा का नामो-निशान तक नहीं है।

किशनगढ़ अनाथाश्रम तथा खण्डवा दुर्भिक्ष-मोचनाश्रम के कार्य के निमित्त जिन लोगों ने दयापूर्वक पिछले अप्रैल तथा मई के महीने में हमारी सहायता करके कृतार्थ किया है, उनका नाम-धाम तथा प्रेषित सहायता इसके पूर्व ही 'इंडियन मिरर' पत्र में प्रकाशित हो चुका है। ...जून महीने में सहायता करनेवालों के नाम-धाम बाद में प्रकाशित होंगे। जयपुर के रेजीडेंट मि. जी.आर. आर्विन महोदय किशनगढ़ आश्रम के सहायतार्थ एक साथ ही १००० रुपये भेजकर हमारे विशेष कृतज्ञता-भाजन हुए हैं। दुर्भिक्ष का प्रकोप देखकर लगता है कि आगामी नवम्बर महीने तक उक्त स्थान में आश्रम चलाना ही होगा और यह सहायता न मिलने पर सम्भवतः अर्थाभाव के कारण इतने दिनों तक आश्रम जारी रखना कठिन होता।''

किशनगढ़ अनाथाश्रम

गत अप्रैल तथा मई की कुल आय – ८१५ रुपये
,, ,, ,, ,, ,, व्यय – ७३७ रु.
हाथ में बाकी – ७७ रु. ...

आय-व्यय का विशेष विवरण वसुमती, प्रतिवासी, इंडियन मिरर आदि समाचार-पत्रों में और पृथक् पैम्फलेट के रूप में छापा जाता है। स्थानीय कमिश्नर साहब से सलाह करके निर्धनों के बीच शीघ्र ही ३०० रुपये के कपड़े बाँटे जायेंगे।

मठ, ***(हस्ताक्षर) स्वामी सारदानन्द***[६]
बेलूड़, हावड़ा
२. ६. ००

उद्‌बोधन (पाक्षिक) में पाँचवाँ संवाद

अगली सूचना इस प्रकार है – ''पश्चिमांचल में राजपुताना के अन्तर्गत किशनगढ़ में स्थित सुप्रसिद्ध

राजपुताना-अनाथालय

नामक रामकृष्ण मिशन के एक अन्य अनाथाश्रम से वहाँ के अध्यक्ष स्वामी कल्याणानन्द ने हमें पिछले भाद्र माह में जो पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश उद्धृत करते हैं – ''... इस समय यहाँ बालक-बालिकाओं की संख्या ११२ है। इनमें से सबका स्वास्थ्य अति सुन्दर है; बीमारियाँ उन्हें प्रायः नहीं के लगभग ही हैं। अनाथों को दोनों समय जौ तथा गेहू के मिश्रित आटे की रोटियाँ और दाल दिया जाता है। छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को शाम के समय थोड़ा-सा नाश्ता भी दिया जाता है। अनाथों के बिस्तर के लिए जाजिम बनवाया गया है और शीघ्र ही उनमें से हर एक को एक-एक कम्बल दिया जायेगा। पीने के पानी की उत्तम व्यवस्था है, तथापि उसमें पोटैशियम परमैगनेट डाला जाता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य-रक्षण हेतु खुले हाथ से फिनाइल, कार्बोलिक पाउडर, चूना आदि खर्च किया जाता है। आपने पहले ही सुन रखा होगा कि कुछ अनाथ बालक-बालिकाओं को काम सिखाने के लिए यहाँ के सूत के मिलों तथा कार्पेट के कारखाने में भेजा जाता है।

५. उद्‌बोधन, वर्ष २, अंक ८, बैशाख १३०७ (अप्रैल १९००), पृ. १४८-१५१ (जून १९८२ अंक के अन्त में पुनर्मुद्रित)

६. वही, वर्ष २, अंक १३, भाद्र १३०७ (जुलाई १९००) पृ. २३६-३७ (फरवरी १९८५ अंक के अन्त में पुनर्मुद्रित)

"अनाथों के भरण-पोषण के अलावा, हर रोज दोनों समय ५०० गरीबों के बीच एक मन चावल तथा दाल की खिचड़ी बाँटी जाती है। अति निर्धन तथा फटे वस्त्र पहनी महिलाओं को घाघरा, चादर तथा पुरुषों को धोती, पाजामा तथा कुर्ता आदि दिया जाता है। लगता है कि ईश्वर की इच्छा से शीघ्र ही हम गरीबों में करीब १०० कम्बल बाँट सकेंगे। वर्षा काल में जिन लोगों को सर्वदा पानी में भीगना पड़ता है, उनके लिए मोटा वस्त्र या कम्बल नितान्त आवश्यक है।

"स्वामी स्वरूपानन्द तथा स्वामी कल्याणानन्द ने उसी समय राजपुताना के किशनगढ़ में मिशन का अकाल-राहत-कार्य आरम्भ किया था। कुछ दिनों बाद स्वामी स्वरूपानन्द को 'प्रबुद्ध भारत' के कार्य हेतु मायावती चले जाना पड़ा। स्वामी कल्याणानन्द ने स्वयंसेवकों को साथ लेकर अकेले ही सेवाकार्य का संचालन किया। यह कार्य एक वर्ष से भी अधिक काल तक चला था। स्वामी कल्याणानन्द बीमार हो गये है – यह संवाद मिलते ही मठ से स्वामी निर्मलानन्द तथा स्वामी आत्मानन्द को वहाँ भेजा गया था।"[७]

किशनगढ़ में दुर्गापूजा

किशनगढ़ में ही कल्याणानन्द तथा केदारनाथ (अचलानन्द) को सूचना मिली कि वाराणसी के क्षेमेश्वर घाट की उस पुरानी जगह पर ही स्वामी शुद्धानन्द आदि आकर दुर्गापूजा का आयोजन करने वाले हैं। इस समाचार से उत्साहित होकर इन दोनों ने किशनगढ़ में भी दुर्गापूजा के उपलक्ष्य में घट-स्थापना करके अनाथ बच्चों के साथ उत्सव सम्पन्न किया था।

अखिल-भारतीय जानकारी

राजपुताने के एक सुदूर अंचल में सम्पन्न हो रहे इस महान् सेवायज्ञ की सूचना समाचार-माध्यमों के द्वारा सारे भारत में फैल रही थी, जिसके फलस्वरूप कार्य चलाने हेतु आर्थिक सहायता आ रही थी और भारतवासियों को स्वयं भी ऐसे कार्य करने की प्रेरणा मिल रही थी।

लाहौर से प्रकाशित होनेवाले 'द ट्रिब्यून'

लाहौर से प्रकाशित होनेवाले 'द ट्रिब्यून' के २९ मई १९०० ई. के अंक में लिखा है, "नवम्बर १८९९ से मार्च १९०० के दौरान मिशन द्वारा किये गये कार्य के रिपोर्ट से पता चलता है कि किस प्रकार एक इच्छुक हृदय थोड़ा-सा चलकर काफी दूर तक पहुँच सकता है। दिसम्बर १८९९ में बेलूड़ मठ के स्वामी कल्याणानन्द द्वारा राजपुताना के किशनगढ़ में एक राहत-केन्द्र आरम्भ किया गया था। इन संन्यासी का उद्देश्य था – पीड़ित बच्चों की सहायता में स्थानीय अधिकारियों के कार्य को आगे बढ़ाते हुए, वास्तविक अनाथों अथवा अपने माता-पिता द्वारा परित्यक्त अकाल-ग्रस्त बच्चों को सहायता पहुँचाना। किशनगढ़ में इस समय उनके पास ८५ अनाथ बच्चे हैं, जिनमें ५५ बालक तथा बाकी (३०) बालिकाएँ हैं। इनमें से १० बच्चे गलीचे के कारखाने में काम कर रहे हैं और ६ बालक तथा ७ बालिकाएँ पास के कपड़े के मिलों में। किशनगढ़ के दरबार ने इस राहत-कार्य के लिए मिशन को मुफ्त उपयोग के लिए दो भवन, एक नौकर, भोजन पकाने के लिए पूरा ईंधन और पिछले दिसम्बर की सर्दियों में अनाथ बच्चों के लिए रजाइयाँ प्रदान की थीं। दीवान रावबहादुर शामसुन्दर लाल के माध्यम से यह वचन भी दिया गया है कि अकाल के दुर्दिनों की समाप्ति के बाद मिशन को एक स्थायी अनाथालय की स्थापना करके वास्तविक अनाथ तथा पीड़ित बच्चों को किसी उपयुक्त स्थान में ले जाने की अनुमति दी जायेगी।

"हम हृदय से कामना करते हैं कि मिशन की निम्न-लिखित अपील व्यर्थ नहीं जायेगी – 'कार्य को बन्द करने का अभी समय नहीं हुआ है। इसे आगामी जून तक या यदि सम्भव हुआ तो कुछ और आगे तक जारी रखना होगा। इस उत्तम कार्य में अब तक सहायता करने के लिए हम आम जनता के प्रति आभारी हैं, और हमें विश्वास है कि इस दुष्काल की समाप्ति तक ईश्वर की कृपा से उनकी सहायता तथा सहानुभूति पाते रहेंगे।"[८]

अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के नवम्बर १९०० के अंक में निम्नलिखित सूचना छपी है – "किशनगढ़ के अनाथालय के लिए फैजाबाद के साधारण धर्मसभा के सदस्यों द्वारा एकत्रित ३५ रुपयों की प्राप्ति-संवाद देते हुए हमें बड़ा आनन्द हो रहा है। मुन्शी द्वारका प्रसाद, मुन्शी जयदयाल और श्री सुर्जन लाल पाण्डे के परिश्रम से ही यह राशि एकत्र हुई, अत: उन्हें हमारा विशेष धन्यवाद।"[९]

राहत-कार्य : एक सिंहावलोकन

१९१८ में मायावती के अद्वैत आश्रम से प्रकाशित स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी के चौथे खण्ड (पृ.३२३-२४) में इस कार्य की कुछ अन्य जानकारी भी प्राप्त होती है – "१८९९ ई. के उत्तरार्ध में भारत एक ऐसे अकाल की चपेट में था, जिसे पिछली कुछ शताब्दियों में नहीं तो कम-से-कम उस शताब्दी में पड़ा हुआ सबसे भयंकर अकाल माना गया है। इस त्रासदी की व्यापकता की दृष्टि से देखें, तो संघ के पास उपलब्ध सीमित संसाधनों के द्वारा मिशन द्वारा सम्पन्न किया गया कार्य सम्भवत: काफी नहीं था, परन्तु निश्चित रूप

७. वही, वर्ष २, अंक १७, कार्तिक १३०७ (सितम्बर १९००), पृ. २८५-८६ (अक्तूबर १९८६ अंक के अन्त में पुनर्मुद्रित)

८. Vivekananda in Contemporary Indian News 1893-1902, Sankari Prasad Basu, Kolkata, Vol I, Pp. 349-350

९. वही, पृ. ६३२

से यह सभी लोगों के द्वारा सर्वाधिक प्रशंसनीय माना गया था। मिशन ने अपने कार्यक्षेत्र के रूप में राजपुताना के बुरी तरह से अकाल-ग्रस्त किशनगढ़ रियासत को चुना। वहाँ एक अकाल-राहत-केन्द्र तथा एक अनाथाश्रम प्रारम्भ करने के लिए नवम्बर (१८९९) में स्वामी कल्याणानन्द को भेजा गया। वहाँ दरबार के उदार सहयोग से वे ५५ बालकों तथा ३० बालिकाओं को अकाल मृत्यु के मुख से बचाने में सफल हुए। इन्हें दरबार द्वारा कृपापूर्वक उपलब्ध कराये गये दो अलग-अलग भवनों में रखा गया था। क्रमश: इनकी संख्या १४१ तक जा पहुँची। प्रतिदिन औसतन ४०० लोगों को सहायता पहुँचायी गयी। इन अनाथ बालकों में से १० को गलीचे के कारखाने में काम मिला और ६ बालकों तथा ७ बालिकाओं को कपड़े के मिलों में नौकरी मिली। १९०० ई. की फरवरी के अन्त में अनाथाश्रम देखने आये अकाल-कमिश्नर श्री जे. आर. डनलप स्मिथ ने अपनी रिपोर्ट में लिखा, 'बच्चे अति उत्तम हालत में हैं और लगता है कि हर प्रकार की सुविधा पाते हैं। वे सभी बड़े प्रसन्न दिखे।... जयपुर के रेजीडेंट श्री जी.आर. अर्विन ने इस कार्य पर प्रसन्न होकर अनाथालय के लिए १००० रुपये दान किये। बाद में स्वामी निर्मलानन्द, स्वरूपानन्द तथा आत्मानन्द भी आये और विविध प्रकार से कार्य में सहायता की। लखनऊ के 'एडवोकेट' पत्र ने लिखा, 'यह अनाथालय कार्य-कुशलता के साथ मितव्ययिता का एक अद्भुत उदाहरण है।' ''[१०]

अनाथालय का भविष्य

किशनगढ़ में अकाल-पीड़ित बच्चों के लिए स्थापित अस्थायी आश्रम कल्याणानन्दजी के प्रबन्ध में इतने सुन्दर रूप से चल रहा था कि वहाँ के लोगों ने उसे स्थायी रूप देने का अनुरोध किया। रामकृष्ण मिशन के संचालक-मण्डल ने इस विषय पर विचार भी किया। स्वामी विवेकानन्द के २१ फरवरी, १९०० के पत्र में मिशन द्वारा किशनगढ़ में चलाये जा रहे सेवाकार्य का उल्लेख है। फिर सितम्बर, १९०० में स्वामीजी द्वारा फ्रांस से तुरीयानन्दजी को लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि 'किशनगढ़ की बालिकाओं को लेकर वह (निवेदिता) वहीं पर एक स्कूल खोलना चाहती है।''[११]

स्वामी सारदानन्द ने २९ मार्च १९०० के दिन श्रीमती बुल को एक पत्र में लिखा, ''अकाल-राहत-कार्य भलीभाँति चल रहा है। वहाँ इस समय कई सौ बालक तथा बालिकाएँ हैं। राजस्थान से इन अनाथ बच्चों को लाने के लिये हम कानपुर में कोई स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।''

तथापि मिशन के लिए वहाँ या अन्यत्र उन बालक-बालिकाओं के लिये कोई स्थायी केन्द्र बना पाना सम्भव नहीं हो सका था। ''अन्तत: उन अनाथ बच्चों को उनके सगे-सम्बन्धियों के पास भेजने तथा अन्य प्रकार से उनकी सहायता करने के बाद अनाथाश्रम को बन्द कर दिया गया।''[१२]

१९२६ ई. में बेलूड़ मठ में आयोजित रामकृष्ण मठ और मिशन महा-सम्मेलन की रिपोर्ट के अनुसार – ''यह राहत-कार्य दिसम्बर १८९९ से दिसम्बर १९०० तक चला था, जिसके तहत कुल ५४० लोगों की सेवा की गई थी। इसके अन्तर्गत एक अनाथाश्रम चलाया गया, जिसमें ४४४ बच्चों का लगभग १० महीनों तक पालन किया गया, इसके बाद अनाथ बालक अपने सगे-सम्बन्धियों को सौंप दिये गये, अथवा उनकी अन्य प्रकार से व्यवस्था कर दी गयी।''[१३]

१९०० ई. के दिसम्बर में कल्याणानन्द वहाँ का कार्य समाप्त कर वृन्दावन होते हुए बेलूड़ मठ लौट गये।[१४] इस राहत-कार्य का विवरण राजपुताना म्यूज़ियम, अजमेर में संरक्षित राजपुताना फेमिन कमीशन के रीपोर्ट में भी प्राप्त है।

विवेकानन्द आश्रम की स्थापना

स्वामी कल्याणानन्द तथा उनके गुरुभाई जिस भवन में निवास करते हुए सेवा-कार्य चलाते रहे, काफी काल बाद उसकी खोज एक विचित्र घटना के माध्यम से हुई। १९५७-५८ का वर्ष था। अजमेर के मजिस्ट्रेट श्री जगदीश प्रसाद दीक्षित किशनगढ़ में कचहरी करने आये हुए थे। गर्मी का मौसम था, पर संयोगवश उस दिन दोपहर के समय सहसा बादल घिर आये और जोरों की वर्षा शुरू हो गयी। लोग भागकर जहाँ-तहाँ आश्रय ढूँढ़ने लगे। सामने ही डॉ. एस.के. बोस का दवाखाना था। मजिस्ट्रेट साहब तेज कदमों से उसी में प्रविष्ट हो गये। उनके न्यायालय में एक स्थानीय प्रकरण में प्रस्तुत किसी पुराने दस्तावेज में 'बंगाली मिशनरी का मकान' उल्लेखित हुआ हुआ था। डॉ. बोस से बातें करते हुए मजिस्ट्रेट साहब ने उनसे 'बंगाली मिशनरी' के बारे में पूछताछ की। डॉक्टर को इस विषय में कोई जानकारी न थी, पर वे इसके शोध में लग गये। रामकृष्ण आश्रम, अजमेर के स्वामी आदिभवानन्दजी के द्वारा उनकी जिज्ञासा का समाधान हुआ। पर्याप्त प्रमाण मिल जाने पर उस ऐतिहासिक स्थान के जीर्णोद्धार एवं विकास हेतु २६ मार्च १९६० को वहाँ 'विवेकानन्द समिति' की स्थापना हुई। समिति के प्रांगण में स्वामी विवेकानन्दजी की एक प्रस्तर मूर्ति भी स्थापित हुई, जिसका अनावरण १६ दिसम्बर १९६४ को मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया के द्वारा किया गया।[१५]

❖ (क्रमश:) ❖

---

१०. Life of Swami Vivekananda, Ed. 1918, Vol. 4, p. 323-4

११. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ८, पृ. ३५८

१२. सारदानन्द-चरित, स्वामी प्रभानन्द, नागपुर, पृ. १४३

१३. Report of the Ramakrishna Math and Mission convention, Belur Math, 1926, p. 253

१४. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), सं. १९७२, पृ. १३८

१५. स्मारिका 'स्वामी विवेकानन्द और किशनगढ़', १९८२, पृ. ४-६

न मे भक्तः प्रणश्यति (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आग्रह पर दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

श्रीमद्-भगवद्गीता के नवम् अध्याय के इकतीसवें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – '**न मे भक्तः प्रणश्यति**'। यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है। इसकी भूमिका देखने से समझ में आ जायेगा। भगवान नौवें अध्याय के पूर्व के अध्यायों में, विशेषकर दूसरे अध्याय में सांख्ययोग का, अर्थात् ज्ञानयोग का उपदेश अर्जुन को देते हैं। बहुत से आचार्यों और विद्वानों ने गीता पर टीका लिखी है। वे कहते हैं कि गीता का सार या उसका प्राण द्वितीय अध्याय के स्थितप्रज्ञ दर्शन में है। यह स्थितप्रज्ञ दर्शन गीता का अपना शब्द है। बड़े-बड़े विद्वान आचार्य हमें बतातें हैं कि वेदान्त में, उपनिषद् में या वेद में स्थितप्रज्ञ शब्द नहीं है। यद्यपि अर्जुन पूछते हैं – स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव: – 'हे केशव ! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त स्थिरबुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है?' किन्तु ये भगवान के अपने विचार हैं। उसमें ज्ञानयोग की चर्चा है या यह चर्चा है कि मनुष्य विवेक-प्रधान होकर अपनी बुद्धि और अपनी शक्ति से अपना विकास करे। छठवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में तो भगवान अत्यन्त स्पष्ट रूप से कह देते हैं कि –

उद्धरेदात्मनात्मानम् नात्मानम् अवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धुः आत्मैवरिपुरात्मनः ।।

अर्थात् 'तुम अपना उद्धार स्वयं करो। अपने को दुख में मत डालो। क्योंकि तुम स्वयं अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो।' जब हम इसकी पहली पंक्ति पढ़ते हैं कि उद्धरेत् आत्मना आत्मानम् – तुम अपना उद्धार अपने आप करो, न आत्मानम् अवसादयेत् – अपने को अवसाद में, दु:ख में मत डाला, तो हमें बड़ा उत्साह मिलता है, लेकिन जब हम दूसरी पंक्ति पढ़ते हैं कि – आत्मा एव आत्मन: बन्धु: आत्मा एव रिपु: आत्मन: – तुम स्वयं ही अपने बन्धु और स्वयं ही अपने शत्रु हो, तो यह पढ़कर मन हिल जाता है कि क्या हम ही अपने मित्र और हम ही अपने शत्रु हैं। यदि ऐसा है, तो हमारे उद्धार का क्या उपाय है? क्योंकि संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति भूतकाल में नहीं था, वर्तमान में नहीं है और न ही भविष्य में होगा, जिसके जीवन में कुछ भूलें न हुई हों, जिसके लिए आज वह दु:खी न हो और पश्चाताप न कर रहा हो – ऐसा न किया रहता तो बहुत अच्छा हुआ होता, पर क्या बताएँ, ऐसा हो गया, अब क्या करें। अर्जुन इसी प्रकार की चिन्ता में लगे हुए हैं। भगवान ने अर्जुन को माध्यम बनाकर सारी बातें हमारे आपके लिए कहीं। हमें भी यह सोचना है कि मेरे जीवन में भी कुछ अपराध या भूलें हुई हैं, उन भूलों के कारण क्या मैं इस बात का अधिकारी हूँ कि अपना उद्धार स्वयं कर लूँ? वैसे गीता में पाप शब्द है, किन्तु वह हमारे आधुनिक अर्थ वाला पाप नहीं है। विशेषकर इस देश में जब से ईसाई साहित्य का प्रचार हुआ, तब से पाप का विकृत अर्थ हमने स्वीकार कर लिया है। ईसाई धर्म के अनुसार तो हमारा जन्म ही पाप से होता है। स्वामी विवेकानन्द इस पृथ्वी पर पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने उन्हीं पापियों के देश में, अपने शिकागो के व्याख्यान में, जहाँ विश्व के बड़े-बड़े पादरी लोग बैठे थे, जिन सबने स्वामीजी के पूर्व एक साथ घोषणा की कि हम पापी हैं और ईसामसीह हमारा उद्धार करने के लिए आए थे। यदि हम उनकी शरण में न जाएँ तो हम पाप से मुक्त नहीं हो सकते। उनलोगों के मुख से 'मनुष्य पापी हैं' यह वाक्य सुनकर स्वामी विवेकानन्द जी ने सिंह गर्जना की – It is a sin to call a man siner. – मनुष्य को पापी कहना सबसे बड़ा पाप है। और तब उन्होंने श्वेताश्वतर उपनिषद का एक श्लोक उद्धृत करते हुये कहा कि आप मनुष्य को पापी कहते हैं, हमारा वेदान्त, हमारा हिन्दू दर्शन कहता है –

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः
आ ए धामानि दिव्यानि चक्षुः ।
वेदाऽहमेतम् पुरुषम् महान्तम्
आदित्य वर्णम् तमसः परस्तात्
तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति ।
नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय ।।

– जो इस मर्त्यलोक में रहते हो तथा ऊपर जो देवतागण हैं, सभी सुनो, तुम अमृत के पुत्र हो, मैंने उस महान पुरुष को जान लिया है, अनुभव कर लिया है, जिसको जानने के बाद मनुष्य सब प्रकार के दु:खों से मुक्त हो जाता है। वह सूर्य के समान प्रकाशित है, वह तम के पार है – अर्थात् वह सभी प्रकार के अज्ञान से परे है। यहाँ तमस् का अर्थ अंधकार नहीं, अज्ञान है। केवल उस परं पुरुष को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के पार जा सकता है। इस पृथ्वी में, मर्त्यलोक से ब्रह्मलोक तक, किसी लोक में भी इसे छोड़कर, अन्य कोई उपाय नहीं है। व्यक्ति अपने अमृत-स्वरूप को जाने, तभी वह मृत्यु के पार जा सकता है। मनुष्य को पापी कहना ही सबसे बड़ा पाप है। मनुष्य अमृतस्वरूप है। यह सिद्धान्त सत्य है और बहुत अच्छा भी।

अर्जुन के मन में जो हुआ, वह हमारे आपके मन में भी होता है। आप लोगों के विषय में तो कह नहीं सकता, अपने विषय में कहता हूँ कि जीवन में इतनी भूलें हुई हैं कि यदि आज ईश्वर मेरे सामने आ जायँ और मुझसे कहें कि यदि मैं तुम्हें पुन: पाँच वर्ष का बना दूँ, तो क्या तू वैसा ही जीवन जीना चाहेगा, जैसा कि सत्तर वर्ष जीया है? तब मैं तो यही कहूँगा कि नहीं प्रभु, मैं ऐसा जीवन नहीं जीना चाहता। अगर आप पुन: मुझे पाँच वर्ष का बना दें, तो मेरे सामने एक आदर्श है, उस आदर्श के अनुसार मैं अपना जीवन जीना चाहूँगा।

यह आप-हम-सब के साथ है। अर्जुन इसी प्रकार की चिन्ता में हैं। भगवान उनकी मनोदशा को समझ जाते हैं। वैसे भगवान श्रीकृष्ण तो सर्वज्ञ कहे जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के बारे में भारतीय संस्कृति संसद, कोलकाता में भी कई बार या कहीं अन्यत्र भी, जब आप लोगों को शब्दांजलि अर्पित करने का अवसर मुझे मिला है, तब मैंने आप लोगों से निवेदन किया है। भगवान श्रीकृष्ण के समान मनोवैज्ञानिक का जन्म मुझे लगता नहीं कि पृथ्वी के किसी भी देश में हुआ होगा और न ही भविष्य में कहीं होगा। हमारे ऋषि-मुनियों की बात छोड़ दीजिए। भगवान कृष्ण ने मनुष्य की दुर्बलताओं को स्वीकार करके उससे उबरने का उपाय बताया। अभी आगे श्लोक में आयेगा, जिसे मैं आपसे विशेष रूप से निवेदन करना चाहूँगा। जो सत्पुरुष हैं, जो सद्व्यक्ति हैं, जो सदाचारी हैं, जिनका आचरण अच्छा है, जो संसार में अच्छे ढंग से रहते हैं, जिन्हें सारी सुविधायें हैं, उनको विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हम जैसे सामान्य व्यक्ति, जो अपनी दुर्बलताओं से पीड़ित हैं और उन दुर्बलताओं से निकलने का कोई उपाय नहीं जानते हैं तथा इस प्रकार के प्रभावों से सोचते हैं कि अब हमारा उद्धार कठिन है। ऐसे लोगों के लिये भगवान श्रीकृष्ण की यह अमोघ वाणी है। इसी प्रकार की विषम परिस्थिति से ग्रस्त अर्जुन का मुँह भगवान ने देखा होगा। हम कल्पना करें कि भगवान रथ में बैठे हुये हैं। वे एक हाथ से घोड़े की लगाम खीचें हुए हैं। घोड़े को चलाने के लिये एक हाथ में चाबुक है और पीछे घूम कर अर्जुन की ओर देख रहे हैं। अर्जुन कहते हैं कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। भगवान देखकर समझ गये। अर्जुन दु:ख प्रकट करते हैं, जिसका वर्णन प्रथम अध्याय में विस्तृत रूप से है, प्रसंग-विस्तार से मैं उसका उल्लेख यहाँ नहीं करूँगा। अर्जुन की बातें सुनने के बाद, जो बात भगवान कह रहे हैं यह कदाचित् संसार के किसी भी धर्मशास्त्र में नहीं है, मैंने जितने आचार्यों और विद्वानों से सुना है या अल्पमात्रा में जो पढ़ा हूँ, उसके आधार पर मैं कह रहा हूँ। यह गीता के नौवें अध्याय का इकतीसवाँ श्लोक है, जिसमें भगवान कहते हैं –

अपिचेत् सुदुराचारः भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यक् व्यवसितो हि सः ।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिम् निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति ।।

यह पढ़-सुनकर रोमांच हो जाता है और हमारे हृदय में इतनी बड़ी आशा जागती है कि संसार का कोई भी व्यक्ति हो, कम-से-कम उसके आध्यात्मिक जीवन में निराशा का कोई कारण नहीं है। बहुत सरल शब्दों में भगवान यह भी कह सकते थे कि – अपिचेत् दुराचार:, यद्यपि वह दुराचारी हो। किन्तु भगवान ने एक शब्द और जोड़ा – 'सुदुराचार:'। केवल दुराचारी नहीं, अति दुराचारी। संसार में जितने दुराचार हैं, यदि उसने किया है और कर भी रहा है, ऐसा व्यक्ति भी – भजते माम् अनन्यभाक् – अगर अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो – साधु एव स मन्तव्य: – उसको तुम साधु ही समझो। क्योंकि – सम्यक् व्यवसितो हि स: – उसने परमात्मा के भजन एवं उनके प्रति निष्ठा का दृढ़ निश्चय कर लिया है।

भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि देख अर्जुन, बड़ा-से-बड़ा पापी, बड़ा-से-बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो उसको तू साधु ही समझो। कैसा साधु? – सम्यक् व्यवसितो हि स:। आइए, हम थोड़ा इसकी भूमिका पर विचार करें, फिर न मे भक्त: प्रणश्यति पर विचार करेंगे।

आज महायती सदन में जो चर्चा हो रही थी, यदि आपलोगों में कोई उसमें उपस्थित रहें हों, तो उसमें मैंने निवेदन किया था कि धर्म केवल उत्तम पुरुष में सम्भव है, अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष में सम्भव नहीं है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से अन्य पुरुष माने वह, मध्यम पुरुष माने तू और उत्तम पुरुष अर्थात् मैं।

अब कैसे अन्य पुरुष में धर्म होने से हमें विशेष कोई लाभ नहीं होगा? मान लीजिये आप किसी व्यक्ति का नाम लेकर कहते हैं कि वे रोज सत्संग करने के लिए जाते हैं, रामायण के बड़े अध्येता हैं, दो घण्टे रोज पूजा करते हैं, वे बहुत धार्मिक हैं। तो वह अन्य पुरुष हुआ। लेकिन यदि वे धार्मिक हैं, तो उससे मुझे क्या लाभ हुआ? मैंने केवल सुन लिया कि वे धार्मिक व्यक्ति हैं। ठीक है। अब मध्यम पुरुष में धर्म होने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होगा, इसे समझें। मान लीजिये, आपने अपने किसी मित्र से, आपसे उम्र में छोटे किसी भाई-भतीजे से पूछा – क्या तुम रोज गीता पढ़ते हो? क्या तुम रामायण पढ़ते हो? या क्या तुम रोज काली मंदिर में जाते हो? तो उसने कहा, हाँ मैं जाता हूँ। तो वह मध्यम पुरुष हुआ। उससे भी आपको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ? केवल यह जानकारी मिली कि वह रोज गीता, रामायण पढ़ता है या काली मन्दिर जाता है। तो मध्यम पुरुष के धर्म से भी हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। अब आती है

(शेष अगले पृष्ठ पर)

चौधरीजी का मायरा

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

हिन्दुओं में बहन के पुत्र या पुत्री के विवाह पर भाई, भात (मायरा) लेकर बहन के यहाँ जाता है। यह प्रथा हजारों वर्षों से चली आ रही है। यदि भाई न हो, तो पीहर के पड़ोसी या गाँव के किसी व्यक्ति द्वारा चुनरी का नेग किया जाता है। भात के नेगचार बिना विवाह के आगे के कार्यक्रम रुके रहते हैं।

तेरहवीं शताब्दी की घटना है। जूनागढ़ के पास अंजार नाम का एक कस्बा है। यहाँ नरसी मेहता की पुत्री नानीबाई की ससुराल थी। नानीबाई की पुत्री का विवाह था। परम्परा के अनुसार जूनागढ़ से मेहताजी भात लेकर आने वाले थे। परन्तु इसके लिये उनके पास साधन नहीं थे। वे भगवद्भक्त थे, जो कुछ था भी, साधु-सन्तों की सेवा-आवभगत में खर्च कर दिया और उन्हीं की मण्डली में रहकर हरिभजन में मग्न रहते। परिवार के लोगों तथा मित्रों को अंजार साथ चलने के लिए उन्होंने आमंत्रित किया। किन्तु भला उनके साथ जाकर कौन अपनी हँसी कराता? आखिर वे अकेले ही एक टूटी-सी बैलगाड़ी पर अंजार की ओर चल पड़े। साथ में साधु-मण्डली भी हरि-कीर्तन करती जा रही थी।

उधर नानीबाई के ससुराल वाले मेहताजी के स्वभाव से परिचित थे। उनकी माली हालत भी उनसे छिपी न थी। बाई को ताने देते कि मेहताजी बहुत बड़ा भात लेकर आ रहे हैं। बाई के पास चुपचाप सहने के अलावा और कोई उपाय नहीं था। वह उदास रहती और पिता के आने की राह देखती।

इसी बीच एक दिन लोगों ने जूनागढ़ की तरफ से गाजे-बाजे और रथों की घण्टियों की आवाज आती सुनी। उत्सुकतावश सभी जमा हुए। थोड़ी देर में सचमुच ही बेशकीमती साजो-सामान लिये मेहताजी के मुनीम आ पहुँचे। अपना परिचय साँवरिया के नाम से दिया और बताया कि मेहताजी की ओर से भात का सामान लेकर आये हैं। बाई के लिये हीरे-मोती-जड़े गहने व चुनरी, सास-ननद के लिये कीमती वस्त्र, यहाँ तक कि नौकर-चाकरों के लिये सोने की कण्ठी और कपड़े।

ऐसे अवसरों पर ससुराल वाले तरह-तरह की फरमाइश में पीछे नहीं रहते। अनेक प्रकार की कीमती चीजों की माँग पेश कर नीचा दिखाने की चेष्टा करते है। परन्तु मुनीमजी तो मानो सारी परिस्थितियों के लिये पहले ही से तैयारी के साथ आये थे। सबकी फरमाइशें पूरी कर दी और वापस चले गये।

इसके बाद मेहताजी इकतारे पर केदार राग में भजन गाते हुए बहन के ससुराल पहुँचे, साथ में साधु-मण्डली भी थी। समधियाने वालों ने उनका ससम्मान स्वागत किया और बताया कि मुनीमजी के हाथों आपने जो चीजें भेजी थीं, वे मिल गयीं, परन्तु वे चले गए। कह रहे थे, जरूरी काम है।

दूसरी घटना – १९वीं शताब्दी की है। दिल्ली के उत्तर में मेरठ, हापुड़, मुक्तेश्वर व सहारनपुर कस्बों में उन दिनों गुज्जर पठानों की जागीरदारियाँ थी। यद्यपि मालगुजारी और उसकी वसूली का अधिकार अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी को हो गया था, फिर भी इन जागीदारों में से बहुतों के सम्बन्ध व रसूक, कमोबेश दिल्ली के बादशाह से कायम थे। सैकड़ों साल से चले आये आपसी ताल्लुकात बाइज्जत बरकरार थे।

अंग्रेज, सिक्खों से युद्ध में उलझे थे। मुगल-शासन पहले से ही शिथिल था। हुकूमत कम्पनी सरकार की चलती थी, पर युद्ध के कारण वह शासन को सुव्यवस्थित नहीं कर पा रही थी। इसीलिये इन जिलों के ताल्लुकों और जागीरों में चोरी-डकैती और राहजनी का जोर था। यहाँ तक कि कुछ बड़े जागीरदार खुद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से डकैतियाँ डलवाते या इन्हें संरक्षण देकर लूट के माल में हिस्सा लिया करते।

मुक्तेश्वर के जागीदार थे गुज्जर चौधरी रूपमजी। हालाँकि उनकी सालाना आमदनी डेढ़-दो लाख ही थी, परन्तु सस्ती

पिछले पृष्ठ का शेषांश

उत्तम पुरुष में धर्म की बात, जिसके बारे में मैंने आपको बताया था। उत्तम पुरुष मानें मैं। हमें अपने आप से यह प्रश्न पूछना है कि मैं क्या करता हूँ? क्या मैं मन्दिर जाता हूँ? क्या सद्ग्रन्थ का पाठ करता हूँ? क्या साधना करता हूँ? क्या मैं अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहता हूँ? हाँ, यदि मैं ऐसा चाहता हूँ, तो भगवान मेरी मदद करेंगे। यह ठीक है कि दूसरों के लिए भी प्रार्थना करनी चाहिए। सबके कल्याण की प्रार्थना करनी चाहिए। किन्तु हमें अपने जीवन को उन्नत बनाने हेतु स्वयं साधना, उपासना, और प्रयत्न करना चाहिये। यह सारे धर्मों का सार है। ❖ (क्रमशः) ❖

का जमाना था, रुपये का ढाई-तीन मन गल्ला तथा दस सेर तेल और तीन सेर घी मिलता था। अच्छी नस्ल के घोड़े की कीमत मात्र बीस-पचीस रुपये थी। चौधरी का रोबदाब था, ठाठ-बाट से रहते थे। दरवाजे पर दो हाथी झूमते, अस्तबल में २५ घोड़े, २० रथ और पछाही बैलों की कई जोड़ियाँ। सैकड़ों की तादाद में निजी सिपाही भी थे।

उनकी जागीर की खिराज पिछले पचास वर्षों से शाही हुक्मनामे के मुताबिक आला शाहजादे के पान-खर्च के लिये लगी हुई थी। अब हालाँकि वे बूढ़े होकर बादशाह हो गए थे और कंपनी के साथ हुई शर्तों के मुताबिक ख़िराज का हक उनका न रहा, वे महज पेंशन के हकदार रहे, फिर भी चौधरी रूपराम प्रतिवर्ष खिराज की रकम लेकर, गाजे-बाजे के साथ मुक्तेश्वर से बादशाह सलामत की खिदमत में नजर करने खुद अपने साथ ले जाते। साथ में हाथी, घोड़े, रथ, तम्बू-कनात और हथियारबन्द सिपाही रहते। चालीस मील के सफर में तीन दिन लग जाते। धर्मशालाएँ या सरायें कम थीं। जहाँ भी ठहरते, तम्बू और छोलदारियाँ लग जातीं।

हर साल की तरह वे दिल्ली जा रहे थे। फसल अच्छी हुई थी। किसान और रिआया (प्रजा) सुखी थे। चौधरी पूरे हुजूम के साथ दिल्ली के लिये रवाना हुए।

दूसरे दिन का मुकाम शाहदरा के लिये तय था। तीसरे दिन की सुबह तक दिल्ली पहुँचने की खबर भेज दी गयी थी।

संयोग की बात है। जिस दिन चौधरी का पड़ाव शाहदरा में था, उसी दिन वहाँ के छोटू मेहतर की पुत्री की शादी भी थी। हापुड़ से भतई आने वाले थे। बिना भात के आगे के नेगचार रुके हुए थे। जनवासे में सारे बाराती बुलावे की बाट जोह रहे थे। शाम का झुटपुटा हो गया। भतई अब तक आये नहीं। छोटू और उसकी पत्नी की चिन्ता बढ़ती गई। अगर भात नहीं आया, तो फिर क्या हाल होगा। इज्जत मिट्टी में मिल जायेगी, क्या मुँह दिखायेंगे? इसी उधेड़बुन में थे कि हापुड़ की ओर से बाजे की आवाज आती सुनाई पड़ी। छोटू की जान में जान आई। जल्दी-जल्दी तैयारी कर वे सब अगवानी के लिये आगे बढ़े। उतवालेपन में एक-दूसरे को पहचान न सके। छोटू आगन्तुकों को सीधा अपने घर तक ले आया।

तब चौधरी साहब ने पूछा, "हमारे हरकारे और तम्बू किधर हैं? तुम हमें कहाँ ले आये?" अब तो छोटू को काटो तो खून नहीं। उसके होश गुम हो गये। डर के मारे काँपने लगा और जमीन पर लोटकर कहने लगा, "बापजी, गजब हो गया, मेरी लड़की की शादी है, बारात आ चुकी है, हापुड़ से भतई आने वाले थे। मैंने समझा कि ... ... परेशानी से मेरा सिर फिरा था। गलती से आपको पहचान न सका। भतई समझकर आपको यहाँ ले आया। आपकी परजा हूँ मालिक ! अनजाने मैं गलती हो गयी, माफ करें।" उसकी घिग्घी बँधी थी।

चौधरी को सफर की थकान थी। एक बार तो गुस्सा आया, त्यौरियाँ चढ़ आयीं। फिर भी चुप रहे, सोचने लगे – बेचारे का क्या कसूर। भात का समय बीत रहा था, बारात शायद नाराज होकर लौट जाती। ऐसे में हर बेटी का बाप होश खो देगा। उन्होंने यह कहते हुए अपनी खामोशी तोड़ी – "छोटू, हमने सुना कि रास्ते में कंजरों ने हापुड़ से आये कुछ लोगों को लूटा है, हो सकता है, कहीं भतई और उनके आदमियों पर मुसीबत पड़ी हो। खैर, तुम फिक्र मत करो। तुम्हारी बेटी, सो मेरी बेटी। सारे नेगचार की तैयारी करो। जनवासे में खबर भेज दो कि भतई भात ले आये हैं, वे बारात लेकर आ जायें।

बादशाह की नजर के लिए लायी हुई सारी कीमती चीजें भात में दे दी गईं। छोटू की पत्नी को जब चौधरीजी चुनरी ओढ़ाने लगे, तो उस गरीब की आँखों में आँसू उमड़ पड़े।

चौधरीजी ने छोटू की बेटी के हाथ में पचीस अशर्फियाँ रखते हुये सुखी-सौभाग्यवती रहने का आशीर्वाद दिया। दूल्हे को सोने के कड़े, पाँचों कपड़े और एक सोरठी घोड़ी दी। वर के पिता को मिरजई और चार अशर्फियाँ। हर बाराती को चाँदी की एक-एक कटोरी। सारे कस्बे में चौधरी के भात की चर्चा बढ़-चढ़कर फैल गई। कोई निन्दा करता, तो कोई प्रशंसा।

दूसरे दिन चौधरी दिल्ली पहुँचे। बादशाह सलामत की ओर से सारा इन्तजाम था। अगवानी के लिये शहर का नाज़िम खुद हाजिर था। दोपहर के वक्त जब दीवान-ए-खास में उनके नाम की तलबी हुई, तो खिराज की रकम की बाबत चौधरीजी ने अर्ज किया कि "हुजूर, हमेशा की तरह गाँव से पूरी रकम लेकर ही चला, पर सफर में कुछ हादसों ने इत्तफाक बना दिया कि पास में कुछ भी न बचा। खैर, हम कुछ दिन फिलहाल यहाँ रुकेंगे और इस दरम्यान अपने इलाके से रकम मँगाकर आपकी खिदमत में पेश करने का फख्र हासिल करेंगे।"

बादशाह ने मुस्कुरा कर कहा, "इलाके के शातिर चोर-डाकू भी आपका रुतबा मानते हैं, लिहाजा ताज्जुब है कि डकैती का यह वाकया आपके साथ कैसे मुमकिन हुआ।"

चौधरीजी ने सारी घटना सच-सच बता दी। बादशाह खुश होकर हँसने लगे। यद्यपि अन्तिम मुगल सम्राट बहादुर शाह केवल नाममात्र के बादशाह रह गये थे, किन्तु वे अपने बाप-दादों से कहीं ज्यादा दरियादिल थे। स्वयं भावुक थे, शायर भी। कहने लगे – "चौधरी रूपराम, आपने जो कुछ भी किया उससे मा-बदौलत बेहद खुश हैं। हम नाजिम को हुक्म फरमाते हैं कि ख़िरज की पूरी रकम वसूली के बतौर खजाने की बहियों में जमा लिख दी जाय। छोटू मेहतर की बेटी को दिया गया भात हमारी तरफ से समझा जाय और भतई – हम और तुम दोनों।" ❑❑❑

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

मैने माँ को दक्षिणेश्वर में देखा

भवतारिणी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक का शेषांश)

माँ ज्यादा बातें नहीं करती थीं। एक बात पर मेरा ध्यान गया है – माँ चाहे जो भी कार्य कर रही होतीं, उनके होठ हिलते रहते थे। एक दिन बड़ा मजा आया। माँ बोलीं – "देख भबी, मैं जरा ठाकुर के कमरे में पीने का पानी रखकर आ रही हूँ।" मैंने कहा – "मुझे दो, मैं रख आती हूँ।" माँ ने नहीं दिया। बोलीं – "बल्कि तू चूल्हे के पास बैठकर देख कि दाल उबलकर कहीं गिर न जाय, उबलने पर थोड़ा पानी छिड़क देना, समझी?" माँ यह कहती हुई चली गयीं – "इस समय उनके कमरे में और कोई नहीं है, मैं जल्दी से रख आती हूँ।" माँ चली गयीं और पानी उबल रहा था। मैं एकटक देखती रही कि दाल उबलने पर पानी छिड़कूँगी। माँ के समान होठ हिला रही थी, क्योंकि माँ को खाना बनाते समय वैसा करते देखा था। केवल होठ हिल रहे थे। पानी उबलने लगा, तो बाँये हाथ से पानी का बर्तन लेकर पानी छिड़कने चली, तभी माँ आ गयीं। बोलीं – "छोड़ दे, भबी। क्या बड़बड़ा रही है?" – "कुछ नहीं, खाना बनाते समय तुमको भी ऐसा करते देखा है, वही कर रही हूँ।" माँ हँसकर बोली – "अरे पगली, इतनी-सी बच्ची है और मैं क्या करती हूँ यह देखा है? मैं बड़बड़ाती नहीं, ठाकुर का नाम लेती हूँ। उसे जप करना कहते हैं। काम करते समय बीच-बीच में भगवान का नाम लेना चाहिए, तभी काम ठीक से होता है। अब जा, ठाकुर के कमरे में थोड़ा पोछा लगा दे। पहले झाड़ू लगा लेना।"

मैं भागकर ठाकुर के कमरे में गयी। झाड़ू देने की बात भूल गयी। देखा – नरेन भैया आये हैं, साथ में और भी दो लोग हैं। मुझे देखते ही नरेन भैया ने कहा – "अरे शाँकचुन्नी (चुड़ैल), बड़ी प्यास लगी है, इस घड़े से पानी निकालकर मुझे पिला।" मैं चिढ़कर बैठ गयी। कह दिया – "मुझसे नहीं होगा। तुम मुझे इस बुरे नाम से क्यों बुलाते हो?" नरेन भैया ने हँसते हुए मुझे खींचकर अपने पास बिठाते हुए कहा – "अरे शाँकचुन्नी, अपने हाथ से पानी, तम्बाकू पिलाने पर तू भी मेरे जैसी सुन्दर हो जायेगी; तभी तो सुन्दर वर पायेगी! अब भागकर एक गिलास पानी दे और एक चिलम तम्बाकू सजाकर ले आ।" ठाकुर कमरे में नहीं थे। मेरा झाड़ू देना नहीं हुआ। मैंने पानी दे दिया। मुझे ठीक से तम्बाकू सजाना नहीं आता था; बरामदे में हुक्का था, एक चिलम लेकर मैं नहबत में गयी। मुझे देखकर माँ ने पूछा – "झाड़ू आदि लगा आयी है न?" – "नहीं, नरेन भैया आये हैं, ठाकुर कमरे में नहीं हैं, उन्होंने तम्बाकू सजा लाने को कहा है। मैं क्या तम्बाकू सजाना जानती हूँ?" – "यह ले, तुझे जानने की जरूरत नहीं है। चिलम मुझे दे दे।" माँ ने एक चिमटा लिया और चुल्हे से आग निकाल कर चिलम में दिया और उसे नारियल के खोपड़े में बैठाकर बोलीं – "ले जा।" हुक्के को इतने व्यस्थित ढंग से सजा देखकर नरेन भैया ने कहा – "तूने यह क्या किया? किसने ऐसा सजाया?" मैं बोली – "क्यों? माँ ने।" नरेन भैया तत्काल सिर पर हाथ रखकर बोल उठे – "अरे शाँकचुन्नी! यह तूने क्या किया? सर्वनाश, अब मैं इस हुक्के से तम्बाकू कैसे पीऊँ? नरेन भैया ने हुक्के को एक बार सिर से लगाया और उसके बाद स्वयं ही तम्बाकू भरकर पीया।

* * *

पूरे दिन माँ से ज्यादा कोई बात नहीं होती थी। वे मुझे पीताम्बर भण्डारी की लड़की के पास भेज देतीं। वहाँ हम दोनों और अन्य दो-एक अन्य लड़के-लड़कियाँ थीं, हम सब मिलकर खजांची के दफ्तर के पास जो छोटा कमरा था, वहीं चटाई पर बैठकर पढ़ते और लिखते – 'अ' 'आ' 'क' 'ख' और गिनती-पहाड़ा। लौट आने के बाद बीच में समय निकालकर माँ पूछतीं – "आज क्या पढ़ा, बता तो!" कहतीं – "जितने दिन पढ़ सकती है, पढ़ ले; लड़की होकर जन्मी है, किसी दिन शादी हो जायेगी! पढ़ना-लिखना विधाता ने क्या हम लोगों के भी भाग्य में लिखा है? केवल बेकार की चीज लिख रखी है – विवाह! विवाह को छोड़ मानो स्त्रियों के जीवन में कुछ करने को है ही नहीं!" माँ गहरी साँस लेकर बोली, "ठाकुर ने कितनी कृपा करके मेरे लिये एक सुयोग बना दिया था – किताब-कापी भी आयी थी, पर पढ़ाई नहीं हुई। बिना पढ़े-लिखे – जिन्दा और मुर्दा एक समान हैं। औरतों की जात मृतक के समान है।"

ऐसा एक दिन भी नहीं गया, जब माँ पढ़ाई-लिखाई के बारे में न पूछती हों। उनकी एक अद्‌भुत पद्धति थी। संध्या की आरती के बाद मुझे प्राय: नींद आती थी; और माँ का निर्देश था कि संध्या के समय सोने से व्यक्ति 'अल्पी' अर्थात् अल्पायु होता है। माँ स्वयं ठाकुर के आसन के सामने बैठ जातीं। थोड़ी देर तक जप-ध्यान करतीं और उसके बाद यदि बाहर का कोई व्यक्ति न होता और यदि मैं ठाकुर के कमरे में न जाती, तो वे कहतीं – "भबी, बैठ।" तब वे गुनगुनाकर भजन गातीं और अपने साथ मुझे भी गाने को कहतीं। पहले तो मैं समझ नहीं पाती थी, पर बाद में देखा कि माँ का गला कितना मधुर था ! माँ कहतीं – "अरे खुलकर गा, दबे गले से मत गाया कर। ठाकुर मुझसे कहते, 'गला खोलकर ईश्वर को भजन सुनाओ, फिर देखना कि ईश्वर कैसा मधुर कण्ठ-स्वर देते हैं।' " मैं माँ के स्वर की नकल करती। इसके बाद वे कहतीं – "अब बता तो, आज क्या पढ़ा? तेरा पढ़ना सुनकर मैं स्वयं भी थोड़ा सीखूँ। अब मुझे थोड़ा पढ़ा।" मेरी बहादुरी भी कम न थी। मैं स्वयं पढ़ूँ या न पढ़ूँ, लेकिन मास्टरी करने का मुझे बड़ा शौक था। जो कुछ पढ़ा था, वह सब माँ को बताती। भूल होने पर माँ सुधार देतीं। जिस दिन शाम को पढ़ना नहीं हो पाता, उस दिन रात को बगल में लेटकर पाठ बोलना पड़ता। उस समय वे बहुत-सी कथाएँ बतातीं – रामायण से, महाभारत से, कृष्ण-कथा, ध्रुव तथा प्रह्लाद की कथा। मधुसूदन दादा की कथा – दही का वह छोटा-सा बर्तन, परन्तु दही समाप्त ही नहीं होता था, जितना भी उड़ेला जाता, उतना ही निकलता जाता था।

* * *

माँ की शिक्षा देने की पद्धति बिल्कुल भिन्न थी, पता ही नहीं चलता कि वे सीखा रही हैं। उपदेश नहीं, बड़ी-बड़ी बातें नहीं; परन्तु वे बहुत बड़ी चीज को भी सहज, सरल, सुन्दर ढंग से मनुष्य के मन में बैठा देतीं – चाहे वह जिस उम्र, जिस स्तर या जिस भी अवस्था का व्यक्ति क्यों न हो। शिशु, वृद्ध, युवक, डकैत, चोर, ठग – चाहे जो भी क्यों न हो। माँ कहती, "दोष को सुधार दो, मनुष्य को दोषी मत ठहराओ। दूसरों का दोष देखने पर पहले स्वयं को दोषी बनाना पड़ता है।"

एक दिन की एक घटना याद आती है। उस समय मैंने अपनी आयु का सातवाँ वर्ष पूरा करके आठवें वर्ष में प्रवेश किया था। बिल्ली का एक बच्चा माँ के पाँवों के चारों ओर घूमता रहता, परन्तु घर की कोई चीज जूठा नहीं करता था। वह भी माँ के परिवार का एक अंग हो गया था। एक दिन, याद नहीं किस कारण से, बिल्ली के बच्चे ने मेरा खाना जूठा कर दिया। मुझे तत्काल क्रोध आ गया। मैं स्वयं को सँभाल न सकी और अपने हाथ के पंखे की डंडी से उस पर दो प्रहार कर दिये। बिल्ली का बच्चा भी 'म्याऊँ-म्याऊँ' चिल्लाते हुए माँ के पैरों में जाकर अपना मुख रगड़ने लगा। तभी देखा – माँ सहसा 'आ' कहते हुए सिहरकर बोल उठीं – "यह किया किया? यह क्या किया?" मैं तो हक्की-बक्की रह गयी। मैंने दौड़कर माँ की गोदकर में जाकर उन्हें जकड़ लिया – "क्या हुआ, माँ?" माँ तत्काल स्वयं को सँभालकर बोली, "अरे भबी, तूने उसे इस तरह मारा?" मैं उनके करुणापूर्ण मुख को देखती रही। उन्होंने एक भी कठोर वाक्य नहीं कहा, बिल्ली के बच्चे को गोद में उठाकर दुलार किया। यही मेरी सजा थी। उसके बाद से मैंने फिर कभी किसी बिल्ली या कुत्ते के शरीर पर हाथ नहीं उठाया।

ठाकुर और ठाकुरानी (माँ) की बातें अमृत के समान हैं। कहकर उनका अन्त नहीं किया जा सकता। छोटी-बड़ी कोई भी चीज माँ की दृष्टि के परे नहीं थी। माँ स्वयं ही दोनों समय मुझे अपने साथ ठाकुर के कमरे में ले जातीं। वे मुझे सिखातीं – झाड़ू से किस तरह बुहारा जाता है, झाड़ू लगाने के बाद झाड़ू कैसे रखा जाता है। जो वस्तु जिस जगह पर रहती है, उसे उसी जगह पर रखना चाहिये, ताकि अँधेरे में भी हाथ लगाने से वह वहीं मिल जाय। सिखातीं – घड़े में कितना पानी हो, ढक्कन आड़ा-टेढ़ा न हो; आसन कैसे बिछाना, चटाई कैसे बिछाना – जरा-सा भी इधर-उधर न हो; कैसे नित्य-पूजा के बर्तन माँजने के बाद सजाकर रखना, पान सजाना, ठाकुर के चप्पल साफ करके रखना। कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। अपने हाथों से करके दिखातीं। कहतीं – भबी, यही सब स्त्रियों की पहली पूजा है, समझी?" कहतीं – "स्त्रियों को आवाज करते हुए नहीं चलना चाहिए, हो-हो करके नहीं हँसना चाहिए, घुटने के ऊपर वस्त्र नहीं उठाना चाहिये, जोर की आवाज में बातें नहीं करनी चाहिये, फिर अस्पष्ट भी नहीं बोलना चाहिए। कहीं जाते समय दुर्गानाम लेकर निकलना चाहिए। पीछे से किसी को पुकारना नहीं चाहिए। गाड़ी या नौका में पहले चढ़ना चाहिये और बाद में उतरना चाहिए, सभी के साथ हँसकर बातें करनी चाहिए, किसी को चोट पहुँचाकर बातें नहीं करनी चाहिए।"

माँ उठते-बैठते ऐसी बातें कहतीं, मानो मिश्री की डलियाँ हों ! सारी बातें क्या याद हैं? याद नहीं रख सकी, तो भी माँ के आँचल की ओट से ये बातें देह में भिद गयी थीं। ठाकुर को प्रणाम किये बिना कोई काम शुरू करना नहीं सीखा।

कभी-कभी ठाकुर स्वयं ही पटसन की रस्सी या बेंत ला देते। माँ उनसे कितने ही सुन्दर आसन और कितने प्रकार की उपयोग की चीजें बनातीं ! मुझसे फूल तुड़वाकर माँ भवतारिणी के लिए माला बनातीं। शाम को मैं उसे मन्दिर में या ठाकुर को दे आती। माँ ने मुझे सब कुछ सिखाया था। थोड़ा-बहुत खाना पकाना सिखाती, तो भी आग के पास ज्यादा नहीं जाने

देतीं। बाहर का ही काम करातीं। माँ का पूरा दिन एक प्रार्थना के समान मधुर और शान्त था। ईश्वर का प्रत्येक कार्य मानो नि:शब्द होता रहता है, वैसे ही माँ के प्रतिदिन का काम-काज भी मानो प्रकृति के लय में बँधा हुआ – सुर-छन्द में गुँथा हुआ संगीत था। इन सब कार्य-कलापों को छोड़कर माँ को समझा नहीं जा सकता, पहचानना तो असम्भव ही है। वे देवी थीं या मानवी? – नहीं, दोनों में से एक भी नहीं, वे तो केवल माँ थीं। इस बार भगवान की यह एक नवीन रचना, नवीन लहरी, नवीन गान – सब कुछ नवीनता से परिपूर्ण है। जगत् अब नवीन मातृत्व के आस्वादन से मुखरित है। ठाकुर की साधना के अन्त में जगदम्बा ने उनसे कहा था – "तू भावमुखी होकर रह।" अपनी समस्त साधना के अन्त में ठाकुर ने माँ से कहा था – "तुम मातृत्व-भाव के विकास हेतु जगत् की आधारस्वरूप जगद्धात्री होकर रहो।"[१]

* * *

मैं अब भी माँ को देखती हूँ। कैसे देखती हूँ, थोड़ा-सा बताती हूँ। १९५३ ई. (बंगाब्द १३६०) में मैं पुरी गयी। वहाँ से मैं माँ के घर जयरामबाटी गयी। आश्रम के महन्त मुझे देखकर बहुत खुश हुए। मेरे निवास-भोजन आदि का सारा दायित्व आश्रम के ऊपर था! स्नान करने के बाद मैं देवी सिंहवाहिनी के मन्दिर में पहुँची। मैंने कइयों से पूछा – "माँ सिंहवाहिनी कौन-सी देवी हैं?" परन्तु कोई भी बता नहीं सका। गणपति पूजा कर रहा था। मुझे देखकर वह हड़बड़ा कर उठ गया। बोला – "आइये बुआ, अन्दर आइये। अहा! कैसा भाग्य है हम लोगों का! कितने दिनों बाद बुआ को देखा!" गणपति मेरा भतीजा है। और मैं भी तो इन्हीं लोगों की हूँ। श्यामासुन्दरी और एलोकेशी दोनों बहनें थीं। श्यामासुन्दरी की पुत्री माँ और एलोकेशी की पुत्री मैं हूँ। इसी नाते के कारण ये लोग मुझे 'बुआ' कहते हैं।

मैंने कहा – "क्यों रे गणपति, सिंहवाहिनी कौन-सी देवी हैं? गणपति बोला – "बुआ, ये बड़ी जाग्रत देवी हैं। देश-देशान्तर से कितने ही लोग आते हैं। किसी की उंगली गल रही है, तो किसी के पेट में पीड़ा है। कोई बच्चे की बीमारी की मनौती लेकर आता है, तो कोई अपनी दु:खपूर्ण गृहस्थी में सुख चाहता है। हर कोई माँ के समक्ष धरना देता है और फूल पाता है; मन की कामना मिटाकर घर लौटता है।"

– "यह तो मैं समझ गयी, परन्तु यह बताओ कि ये सिंहवाहिनी कौन-सी देवी हैं?"

गणपति सिर खुजलाने लगा; और गणपति ही क्यों, मैंने तो माँ के भौजाइयों से भी पूछा था। उनकी भी वही एक बात। मैंने आश्रम के महन्त को पूछा, पर उनसे भी वही अस्पष्ट उत्तर मिला। मन में केवल यही एक प्रश्न उठ रहा था – ये सिंहवाहिनी कौन-सी देवी हैं? ... पूजा समाप्त हुई। मैं एकाकी माँ के सामने बैठी रही। माँ से बातें करने लगी – "माँ सिंहवाहिनी, तुम कौन हो माँ? माँ, तुम सिंहवाहिनी हो, तुम कौन हो माँ? हे माँ सिंहवाहिनी, तुम बोलो न!" माँ का मन्दिर सहसा एक मधुर सुगन्ध से गमगमा उठा। पूरा कमरा विद्युत की चमक से आलोकित हो उठा। जहाँ माँ का छोटा घट स्थापित किया गया था, वह मेरे नेत्रों के सामने से लुप्त हो गया। उसकी जगह देखा – एक जीवन्त सिंह। दोनों कान हिल रहे हैं। पूँछ भी हिल रही है। और सिंह के पीठ पर जगद्धात्री बैठी हैं! उनके शरीर का रंग चटक लाल है! – "ओ माँ, तुम्हीं सिंहवाहिनी हो? तो माँ सिंहवाहिनी, तुम्हीं जगद्धात्री हो! माँ जगद्धात्री, तुम्हीं सिंहवाहनी हो!" यह क्या हुआ। पलक झपकते ही देखा कि जगद्धात्री अदृश्य हो गयीं और उनकी जगह सिंह की पीठ पर बैठी हैं – दसभुजा माँ दुर्गा। – "ओ माँ सिंहवाहिनी, तुम्हीं जगद्धात्री हो और तुम्हीं दुर्गा भी हो! तुम कितने रूप धारण करती हो माँ!" अधिक समय तक नहीं, सम्भवत: दो-एक मिनट मात्र। उसके बाद देखा – दुर्गा भी नहीं, जगद्धात्री भी नहीं; सिंहासन को आलोकित करती हुई बैठी हैं – मेरी माँ-सारदा। उनके केश हमेशा की तरह उनके वक्ष पर फैले हुए हैं।

– "माँ! ओ माँ! तुम सारदा हो, तुम सिंहवाहिनी हो, तुम जगद्धात्री हो और फिर तुम्हीं दुर्गा हो। ओ मेरी सारू-दीदी! ओ मेरी गेंदा फूल दीदी! तुम तो माँ सारदा हो और फिर तुम्हीं जगद्धात्री हो और तुम्हीं दुर्गा हो। अहा! यह मेरा कैसा अद्भुत आनन्द है!"

मैंने गले में वस्त्र लपेटकर माँ को प्रणाम किया। सिर उठाकर देखा तो माँ अदृश्य थीं। न सिंह है, न उसके पीठ पर जगद्धात्री हैं और न मेरी दशभुजा दुर्गा! वेदी पर जैसे पहले घट स्थापित था, वैसे ही है। मेरा मन रुदन के भाव से परिपूर्ण हो उठा। माँ ने स्वयं दर्शन देकर मुझे बता दिया कि सिंहवाहिनी कौन है। सभी को बताना होगा। जो लोग बिना जाने ही माँ के मन्दिर में धरना देते आये हैं, माँ का आशीर्वादी निर्माल्य धारण करके जिनकी मनोकामना पूरी हुई है, मैं उन सभी को बता दूँगी।[२]

❖ **(क्रमशः)** ❖

---

१. बसुमती माँ श्रीभवतारिणी देवीर आत्मकथा (बँगला), खंड २, अहिभूषण बसु, सं.२०००, पृ. १२, १४-२१, २४-२५, ३०-३२

२. तापसी बसुमती माँ (बँगला), प्रतिमा चट्टोपाध्याय, १३८५, पृ. ६-९

कर्मयोग की साधना (३)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – ''किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।'' भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

६. स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में कर्म

ब्रह्म की आत्म-अभिव्यक्ति के फलस्वरूप ही सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति होती है – शंकराचार्य के इस सिद्धान्त से वेदान्त के अन्य सभी आचार्य एकमत हैं; स्वामी विवेकानन्द ने इसकी 'अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति' के रूप में पुन: व्याख्या की और इसे एक जीवन-दर्शन का रूप दिया।

शंकराचार्य का मुख्य प्रयास था – ब्रह्म की सर्वोच्चता स्थापित करना। परन्तु इस दृश्यमान जगत् की अनेकता तथा परिवर्तनशीलता की समस्या का समाधान करने के लिये उन्होंने माया या अज्ञान नामक एक रहस्यमय अवर्णनीय तत्त्व की स्थापना की, यद्यपि उन्होंने कभी उसे ज्यादा महत्त्व नहीं दिया। परन्तु शंकराचार्य के बाद के विचारकों ने माया को ब्रह्म से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया। एक नकारात्मक तत्त्व पर अनावश्यक बल देते रहने की परम्परा ने पिछले हजार वर्षों से इस देश के लोगों के मन पर अपंगता जैसा प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। अब यह राष्ट्र उसे झाड़कर निकालने का प्रयास कर रहा है।

पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों के दौरान स्वामी विवेकानन्द ने एक महान् कार्य सम्पन्न किया। उन्होंने अद्वैत-वेदान्त को एक ऐसे समन्वयपूर्ण, सर्वांगीण, सक्रिय तथा व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया, जो लोगों को न केवल अपने दैनन्दिन जीवन की समस्याओं का, अपितु राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं का भी समाधान करने में समर्थ बन सकता था। सर्वप्रथम तो उन्होंने माया का महत्त्व कम कर दिया। द्वितीयत:, जो लोग समझ सकते थे, उन्हें उन्होंने ध्यान दिलाया कि यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य हो, तो न केवल सर्वोच्च समाधि की अनुभूति, अपितु प्रत्येक क्रिया ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। सभी विचारों तथा कार्यों, जीवन की प्रत्येक धारा के माध्यम से ब्रह्म ही स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है, यद्यपि अति अल्प लोग ही इस विषय में सचेत हैं। स्वामीजी की दृष्टि में पूरा जीवन ही धर्म है और जीवन-यापन भी ब्रह्म की क्रमश: आत्म-अभिव्यक्ति है। उनका कर्मयोग का सिद्धान्त जीवन की इसी समन्वित दृष्टि पर आधारित है। तथापि स्वामीजी एक दार्शनिक की अपेक्षा जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से जुड़े एक धर्माचार्य थे, अत: वे कर्म का कोई व्यवस्थित तथा सुविकसित दर्शन नहीं छोड़ गये।

संस्कृति के तीन स्तम्भ हैं – कर्म, शिक्षा तथा धर्म। स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा तथा धर्म को तो स्पष्ट रूप से परिभाषा दी है, परन्तु कर्म को परिभाषित नहीं किया है। तथापि, चूँकि ''मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति'' के रूप में उनकी शिक्षा की परिभाषा और ''मनुष्य में अन्तर्निहित दिव्यता की अभिव्यक्ति'' – के रूप में उनकी धर्म की परिभाषा – एक-दूसरे से काफी मिलती-जुलती है, ऐसी कल्पना उचित ही होगी कि यदि वे कर्म की परिभाषा करते, तो वह भी इनसे ज्यादा भिन्न नहीं होती। तात्पर्य यह कि शिक्षा तथा धर्म के समान ही कर्म भी आत्मा के ऊपर पड़े हुए आवरण को हटाने की एक प्रक्रिया है। कर्मयोग पर अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में स्वामीजी कहते हैं –

''प्राच्य दर्शन के मतानुसार वह ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित है।... हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक-ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करने पर हमें कहना चाहिये कि वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वस्तुत: 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है – मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञान-स्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।... जैसे एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, वैसे ही मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपक घर्षण का कार्य करके उसको प्रकाशित कर देता है। हमारे समस्त भावनाओं और कार्यों के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। यदि हम शान्त होकर स्वयं का अध्ययन करें, तो प्रतीत होगा कि हमारा हँसना-रोना, सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, हमारी शुभ कामनाएँ और शाप, स्तुति तथा निन्दा – ये सब हमारे मन के ऊपर अनेक घात-प्रतिघातों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। हम जो कुछ भी हैं, इसी के फल से हैं। ये सब घात-प्रतिघात मिल कर 'कर्म' कहलाते हैं। आत्मा की आन्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एवं ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिये उस पर जो

मानसिक तथा भौतिक आघात पहुँचाये जाते हैं, वे ही कर्म हैं। यहाँ कर्म शब्द का उपयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। इस प्रकार हम सब प्रतिक्षण ही कर्म करते रहते हैं।''[११]

स्वामीजी की दृष्टि में धर्म तथा शिक्षा के समान ही कर्म भी अनुभूति का एक साधन है। यदि शिक्षा बोधरूप अनुभूति है, तो धर्म अतीन्द्रिय अनुभूति है और कर्म को क्रियात्मक अनुभूति कहा जा सकता है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार (ब्रेंटैनो का दृष्टिकोण इसका अपवाद है) अनुभूति एक निष्क्रिय घटना है; जैसे कैमरे में प्रकाश घुसता है, वैसे ही मन में ज्ञान प्रवेश करता है। परन्तु सांख्य-वेदान्त मनोविज्ञान के अनुसार बोध या ज्ञान एक स्वैच्छिक क्रिया है। यह भीतर से बाह्य जगत् की ओर गति है। प्रत्येक अनुभूति में अन्तरात्मा बाहर निकलकर वस्तु पर आघात करती है; अन्तरात्मा का प्रकाश ही वस्तु को आलोकित करता है। अत: प्रत्येक अनुभव एक प्रकार की आत्म-अभिव्यक्ति है। तथापि अधिकांश लोग शायद ही इस अद्‌भुत सत्य से परिचित होते हैं, क्योंकि वे आत्मा से नहीं, बल्कि मन तथा उसकी वृत्तियों से तादात्म्य का बोध करते रहते हैं। जो व्यक्ति उच्चतर आत्मा के साथ तादात्म्य का बोध करता है, वह निरन्तर दृग्-दृश्य-विवेक (द्रष्टा तथा दृश्य के बीच विवेक) का अभ्यास करता रहता है और देखता है कि प्रत्येक अनुभव तथा प्रत्येक क्रिया उसकी उच्चतर आत्मा की चेतना में दृढ़ता लाती रहती है।

क्रिया अनुभव से जुड़ी होती है। प्रत्येक अनुभव आत्मानुभव की एक प्रक्रिया है – यही विचार स्वामी विवेकानन्द के कर्मयोग-सिद्धान्त का आधार है। परन्तु इस सिद्धान्त के सत्य को जानने के लिये व्यक्ति को सर्वदा सतर्क तथा पूर्ण सजग रहना होगा, निरन्तर विवेक-विचार का अभ्यास करना होगा और हमेशा शान्त तथा मननशील रहना होगा। जो लोग सजगता तथा आत्म-निरीक्षण का अभ्यास नहीं कर सकते, जिनके मन झंझायुक्त तथा चंचल हैं, उनके लिये सत्कर्म भले संस्कार अर्जित करने और एक अच्छा चरित्र निर्माण करने का साधन मात्र है।

७. कर्म द्वारा चरित्र-निर्माण

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द मूलत: एक धर्माचार्य थे, तथापि आम जनता के लिये वे एक धर्म-प्रचारक भी थे। वे अपने कुछ सुयोग्य शिष्यों की आध्यात्मिक अनुभूति में जितनी रुचि रखते थे, आम जनता के भौतिक कल्याण में भी उतनी ही रुचि रखते थे। चूँकि अधिकांश लोगों के लिये तत्काल ही आध्यात्मिक अनुभूति पाना सम्भव नहीं है, अत: उन्होंने उन लोगों को एक नैतिक तथा उपयोगी जीवन के मूल तत्त्वों का उपदेश दिया। उनकी विशाल ग्रन्थावली में जहाँ (एक ओर) त्याग तथा आध्यात्मिकता का मार्ग अपनाने का आह्वान है, वहीं (दूसरी ओर) चरित्र, कर्म-कुशलता तथा उत्कृष्टता विकसित करने का आह्वान भी है। हमें उनकी इन दो प्रकार की शिक्षाओं के बीच घालमेल नहीं कर लेना चाहिये।

जो समाज शुद्ध-स्वभाव, नि:स्वार्थ चरित्र तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियों को उत्पन्न कर सकता है, वही समृद्ध हो सकता है और एक उच्च स्तर की संस्कृति की उपलब्धि कर सकता है। स्वामीजी ने बारम्बार बताया है कि कर्म के द्वारा ही व्यक्ति में उत्तम चरित्र तथा इच्छाशक्ति का विकास होता है।[१२] यहाँ पर हम (जर्मन कवि) गेटे की उस प्रसिद्ध उक्ति का स्मरण कर सकते हैं – "Genius develops in solitude, character in struggling with the world." (प्रतिभा एकान्त में विकसित होती है और चरित्र जगत् के साथ संघर्ष करने से विकसित होता है।) प्रत्येक क्रिया मन में एक चिह्न छोड़ जाती है, जिसे संस्कार कहते हैं और स्वामीजी के मतानुसार – इन समस्त संस्कारों का योग चरित्र कहलाता है। आरामपूर्वक बैठने या पुस्तकें पढ़ने मात्र से नहीं, अपितु सत्कर्म, सेवा तथा उदारता के द्वारा ही उत्तम चरित्र का निर्माण होता है। इसी अर्थ में स्वामीजी ने कहा है कि वे लोगों को तमोगुण या जड़ता से उठाकर उनमें प्रबल रजोगुण भर देना चाहते हैं। वे चाहते थे कि लोग शक्ति का विकास करें, परन्तु यह लड़ाई-झगड़े या एक-दूसरे का सिर फोड़ने के लिये नहीं, अपितु भले कार्य सम्पन्न करने तथा शुद्ध चरित्र का विकास करने के लिये हो। प्रयासपूर्वक सोद्देश्य गुणों तथा उत्कृष्टता की उपलब्धि और शुद्ध नि:स्वार्थ चरित्र का विकास ऐसे विषय हैं, जो स्वामीजी के लेखन तथा व्याख्यानों में बारम्बार देखने को मिलते हैं।

परन्तु इसके अतिरिक्त वे जीवन के उच्चतर उद्देश्य के बारे में भी निर्देश देते हैं। चरित्र का विकास अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। मन के अच्छे संस्कार इच्छा को भले मार्गों में प्रेरित करते हैं। परन्तु आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है – उच्चतर चेतना की अनुभूति और इसका तात्पर्य है मन के सामान्य स्तर के ऊपर उठना। यह तभी सम्भव है, जब इच्छा भले संस्कारों से भी मुक्त हो जाय। साधक के लिये अच्छा चरित्र एक नींव के रूप में उपयोगी है, परन्तु उसे वहीं ठहर नहीं जाना चाहिये। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं –

"इन शुभ संस्कारों से सम्पन्न होने की अपेक्षा एक और भी अधिक उच्च अवस्था है और वह है मुक्तिलाभ की इच्छा।''[१३]

स्वामीजी के मतानुसार कर्मयोग के द्वारा भी इस मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। अपने खास अंदाज में वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं –

"बुद्ध ने ध्यान से तथा ईसा ने प्रार्थना द्वारा जिस अवस्था की प्राप्ति की थी, मनुष्य केवल कर्म के द्वारा भी उस

---

११. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र.सं., खण्ड ३, पृ. ३-५

१२. वही, खण्ड ३, पृ. ५-७ १३. वही, पृ. ३१

अवस्था को प्राप्त कर सकता है।''[१४]

यहाँ महत्त्वपूर्ण स्मरणीय बात यह है कि कर्मयोग का उद्देश्य चरित्र का विकास या जगत् का भौतिक कल्याण नहीं है, क्योंकि वह तो प्रवृत्ति का मार्ग है। इसके विपरीत कर्मयोग निवृत्ति-मार्ग के अन्तर्गत आता है; यह एक आध्यात्मिक साधना है और इसका लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है। मुमुक्षुत्व या मुक्ति के लिये तीव्र आकांक्षा ही कर्मयोग के अभ्यास के लिये पहली शर्त है। यदि व्यक्ति के भीतर व्याकुलता की यह अग्नि प्रज्वलित न हो, तो व्यक्ति को सामान्य भले कर्म, परोपकार तथा सेवा, सत्पुरुषों का संग, शास्त्रों का अध्ययन, विचार का अभ्यास या ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये।

८. कर्मयोग के दो राजमार्ग

कर्मयोग पर अपने व्याख्यानों में स्वामी विवेकानन्द ने कर्मयोग के दो प्रकार बताये हैं – ''आसक्ति का सम्पूर्ण त्याग करने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय उन लोगों के लिये है, जो न तो ईश्वर में विश्वास करते हैं और न किसी बाहरी सहायता में। वे अपने ही उपायों का प्रयोग कर सकते हैं, उन्हें अपनी इच्छा-शक्ति, मन:शक्ति तथा विवेक का अवलम्बन करके कहना होगा, ''मैं अनासक्त होऊँगा ही।'' जो ईश्वर पर विश्वास करते हैं, उनके लिये एक दूसरा मार्ग है, जो इसकी अपेक्षा बहुत सरल है। वे समस्त कर्मफलों को ईश्वर को अर्पित करके कर्म करते जाते हैं।... हमें तो तटस्थ खड़े होकर सोचना चाहिये कि हम तो केवल प्रभु के – अपने स्वामी के आज्ञाकारी भृत्य हैं और हमारे कर्म की प्रत्येक प्रेरणा प्रतिक्षण उन्हीं के पास से आ रही है।''[१५]

स्वामीजी द्वारा बताया गया प्रथम प्रकार का कर्मयोग है – कर्म के लिये ही कर्म करना। प्राय: इसी प्रकार के कर्मयोग को कर्म द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की नयी पद्धति के रूप में उल्लेख किया जाता है। इसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के कर्मयोग में सगुण ईश्वर, दैवी कृपा आदि की जरूरत नहीं पड़ती। परन्तु जैसा कि आम विश्वास प्रचलित है – इसका यह तात्पर्य नहीं कि किसी प्रकार से किया हुआ कोई भी कर्म सहज भाव से मुक्ति तक पहुँचा देगा। ऐसी भ्रान्त धारणा 'कर्म' शब्द के वास्तविक अर्थ के प्रति अज्ञानता के ऊपर ही आधारित है। आगे चलकर इस विषय पर हम विस्तार से चर्चा करेंगे। यहाँ केवल इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि केवल मांसपेशियों के संचालन को ही कर्म नहीं कहते। शरीर तथा मन आपस में अभिन्न रूप से जुड़े हैं और हर तरह का स्वैच्छिक कार्य मन की क्रिया पर आधारित होता है। मन निरन्तर ही कर्म को प्रभावित करता रहता है। इसी प्रकार यह भी मान लेना उचित होगा कि कर्म भी मन को प्रभावित करता रहता है।

१४. वही, पृ. ३१ १५. वही, पृ. ७५

दूसरे प्रकार का कर्मयोग वह है, जो 'पूजा के भाव से कर्म' कहलाता है। इसी प्रकार के कर्म को स्वामीजी ने भारत में लोकप्रिय बनाया है और इसे रामकृष्ण मिशन के केन्द्रों द्वारा अपनाया गया है। इस विषय के एक सुपरिचित विद्वान् का कहना है कि उपर्युक्त द्वितीय प्रकार का कर्मयोग वस्तुत: भक्तियोग का ही एक रूप है। वे कहते हैं –

''स्वामी विवेकानन्द ने जिस प्रकार हमें मनुष्य में ईश्वर को और मनुष्य को ईश्वर के रूप में पूजा करने का उपदेश दिया है, उसे मैं भक्तियोग मानता हूँ। ज्योंही हमारे मन में पूजा का भाव आता है, त्योंही यह कर्म या कर्मयोग की परिधि के भीतर नहीं रह जाता; और इसे हम भक्तियोग कह सकते हैं।''[१६]

हम लोग जब यह दावा करते हैं कि स्वामी विवेकानन्द द्वारा उपदिष्ट 'कर्म के लिये ही कर्म' रूपी कर्मयोग मुक्ति का एक स्वतंत्र तथा सीधा मार्ग है, उस समय हमें यह स्मरण रखना होगा कि यह उस मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है, जिसके अनुसार कर्म का प्रभाव भौतिक रूप से समाप्त हो जाता है। पहले ही कहा जा चुका है कि कुमारिल, प्रभाकर आदि कुछ परवर्ती मीमांसक दार्शनिकों के मतानुसार ज्ञान केवल कर्म के स्थूल रूप को ही प्रभावित कर सकता है। कर्म का फल या उसकी अदृश्य शक्ति को ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता और वह अनिवार्य रूप से कर्ता के पास लौट आता है। जब तक सभी पूर्व-कर्मों के संचित फल समाप्त न हो जायँ, तब तक व्यक्ति को प्रतीक्षा करनी होगी; और इस दौरान व्यक्ति को नि:स्वार्थ या अनासक्त भाव से कर्म करते रहना होगा ताकि नये कर्मफल संचित न हों। कर्म की यांत्रिक समाप्ति के ऐसे किसी सिद्धान्त को स्वामी विवेकानन्द ने कभी स्वीकार नहीं किया। शंकराचार्य के समान ही उनका भी विश्वास था कि ज्ञान के द्वारा सभी कर्मफलों का नाश किया जा सकता है। इस विश्वास में भी स्वामीजी शंकराचार्य से सहमत हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड सबके लिये बाध्यतामूलक नहीं है। मीमांसकों का सिद्धान्त था – कर्म के लिये ही कर्म करना। उनके लिये कर्तव्य का अर्थ है – बाध्यता और चिरमुक्त आत्मा के लिये बन्धन। पर स्वामीजी के कर्मयोग का भाव है – मुक्त कर्ता द्वारा कर्म। वे अपने अनुयाइयों को, कर्तव्य के बोझ से मुक्त होकर, दास की जगह स्वामी की भाँति कर्म करने के लिये उत्साहित किया करते थे। कर्तव्य के विषय में वे कहते हैं –

''यह हमें जकड़ लेता है और हमारे पूरे जीवन को दु:खपूर्ण कर देता है। यह मनुष्य-जीवन के लिये महा विभीषिका-स्वरूप है।... कर्तव्य वहीं तक अच्छा है, जहाँ तक कि यह पशुत्व-भाव को रोकने में सहायता प्रदान करता

१६. Swami Madhavananda, 'Work, Discipline and Prayer' in Vedanta Kesari, June 1957

है। उन निम्नतम श्रेणी के मनुष्यों के लिये, जो अन्य किसी उच्चतर आदर्श की कल्पना ही नहीं कर सकते, शायद कर्तव्य की यह भावना कुछ हद तक अच्छी हो, परन्तु जो कर्मयोगी बनना चाहते हैं, उन्हें तो कर्तव्य के इस भाव को एकदम त्याग देना चाहिये।... जो कुछ भी तुम विवश होकर करते हो, उससे आसक्ति उत्पन्न होती है।[१७]

स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताया गया कर्मयोग मन के विकास तथा रूपान्तरण की एक तकनीक है। हमें भौतिक गति को ही कर्म समझकर इस भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिये कि शरीर की ऐसी यांत्रिक क्रियाएँ हमें मुक्ति तक पहुँचा देंगी और न हमें ऐसे किसी सिद्धान्त को किसी महान् आचार्य के साथ जोड़ना चाहिये, जो कभी यह कहते नहीं थके – "अगर 'जड़' शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है।"[१८] हम पहले ही बता चुके हैं कि एक ज्ञानी के लिये हर प्रकार की क्रिया आत्म-अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया का कार्य कर सकती है। इस तरह का 'कर्म के लिये कर्म' वस्तुत: ज्ञान-योग के अन्तर्गत आना चाहिये, क्योंकि यह आत्मज्ञान पर आधारित है और यह ज्ञान के द्वारा मुक्ति की ओर ले जाता है। यह आत्मा के ऊपर पड़े हुए आवरणों को हटाने की एक प्रक्रिया है। अपने शिष्य शरत् चन्द्र चक्रवर्ती से वार्तालाप के दौरान स्वामीजी इस तथ्य की व्याख्या करते हैं –

"आत्मप्रकाश के सभी विघ्न शास्त्रोक्त साधना रूपी कर्म द्वारा हटा दिये जाते हैं। स्वयं कर्म में आत्मप्रकाश की शक्ति नहीं; वह कुछ आवरणों को हटा भर देता है। उसके बाद आत्मा अपनी ज्योति से स्वयं ही अभिव्यक्त हो उठती है।"[१९]

दूसरे शब्दों में, चित्त की शुद्धि ही कर्मयोग का उद्देश्य है; और इस बिन्दु पर शंकराचार्य भी उनसे सहमत हैं। परन्तु जहाँ शंकराचार्य का मानना है कि चित्तशुद्धि के बाद कर्म का पूर्ण त्याग तथा शास्त्रों का अध्ययन (विशेषकर किसी सिद्ध गुरु के मुख से महावाक्य सुनना) आवश्यक है, वहाँ स्वामीजी ऐसी शर्तों पर बल नहीं देते। स्वामीजी के मतानुसार जब चित्त यथेष्ट रूप से शुद्ध हो जाता है, तो आत्मा का प्रकाश स्वत: ही प्रकट हो उठता है। तथापि यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि स्वामीजी के कर्मयोग का लक्ष्य मीमांसकों के समान संचित कर्मों की समाप्ति नहीं, अपितु कर्म द्वारा चित्तशुद्धि तथा आत्मज्ञान की उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में, वे एक तरह के व्यावहारिक ज्ञानयोग की शिक्षा दे रहे हैं। अत: जब हम कहते हैं कि स्वामीजी ने हमें कर्म के द्वारा मुक्ति पाने की एक नयी पद्धति सिखायी है, तो इससे हमारा यह तात्पर्य होना चाहिये कि उन्होंने एक नये प्रकार के ज्ञानयोग की शिक्षा दी है, जिसमें कर्मत्याग आवश्यक नहीं है। यह ज्ञानयोग के अन्तर्गत आता है; और यह किसी भी प्रकार शास्त्रों अथवा इस देश में युगों से चली आ रही परम्परा का विरोधी नहीं है।

९. कर्म और चेतना

साधना उच्चतर आध्यात्मिक या दिव्य चेतना की प्राप्ति के लिये एक संघर्ष है। इसमें कर्मयोग हमारी कैसे सहायता कर सकता है, यह जानने के लिये हमें यह जानना होगा कि कर्म तथा चेतना के बीच क्या सम्बन्ध है। हम देख आये हैं कि कर्म जीवन की एक गति या क्रिया है। क्या जीवन और चेतना एक ही तत्त्व हैं?

पाश्चात्य विचारक तथा जैन-बौद्ध धर्म – जीवन तथा चेतना को एक ही मानते हैं और उन्हीं के प्रभाव से वर्तमान काल में भ्रम फैला हुआ है। परन्तु हिन्दुओं के अधिकांश दर्शन-शास्त्रों का विश्वास है कि दोनों पृथक् तत्त्व हैं। हिन्दू धारणा के अनुसार व्यक्तित्व त्रि-विभागी है अर्थात् यह शरीर-मन तथा आत्मा का योग है। वेदान्त के मतानुसार चेतना केवल ब्रह्म तथा आत्मा का गुण है। मन सहित बाकी सब कुछ प्रकृति के अन्तर्गत आता है, जो जड़ या अचेतन है। जीवन प्रकृति (जड़) की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है।

उपनिषदों में जीवन के लिये 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है। कठोपनिषद् का कहना है –

"यह सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड प्राण से ही प्रकट हुआ है और प्राण में ही स्पन्दित होता है।"[२०] इसकी एक उल्टे हुए पीपल के वृक्ष से तुलना की गयी है, जिसकी जड़ें शुद्ध चेतना या ब्रह्म है। प्रश्नोपनिषद् भी 'प्राण' को जीवन का एक सर्वव्यापी तत्त्व बताता है और इसके लिये एक चक्र की उपमा देता है, जिसकी तिल्लियाँ केन्द्र में आकर परमात्मा में जुड़ जाती हैं।[२१] बृहदारण्यक उपनिषद् 'प्राण' को प्रजापति या हिरण्यगर्भ का पर्याय बताता है और कहता है कि सम्पूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म से ही प्रकट होता है। प्राण को सत्य कहते हैं, परन्तु ब्रह्म सत्य का भी सत्य है।[२२]

तंत्रों में मानसिक ऊर्जा को प्राण कहते हैं, जो इड़ा-पिंगला तथा सुषुम्ना – इन तीन मार्गों से प्रवाहित होती है। अधिकांश ऊर्जा सुप्त अवस्था में रहती है, जिसे कुण्डलिनी कहते हैं और जब उसे जाग्रत किया जाता है, तो यह सुषुम्ना के मार्ग से बहती हुई, प्रत्येक चक्र या चेतना-केन्द्र में एक नये प्रकार की चेतना जाग्रत करती जाती है।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन तथा कर्म सहित इसकी सारी अभिव्यक्तियाँ शुद्ध चेतना से पृथक् हैं, तथापि किसी प्रकार उसके साथ अन्तरंग भाव से युक्त या उसी पर निर्भर हैं। आत्मा का जीवन के साथ योग ही बन्धन है और जीवन से अलग होना ही मुक्ति है। ❖ (क्रमश:) ❖

१७. वही, पृ. ७६-७७ १८. वही, खण्ड ८, पृ. १३
१९. वही, खण्ड ६, पृ. १५२

२०. कठ., २/३/२; २१. प्रश्न., २/६; २२. वृहदारण्यक., २/१/२०

स्वामी विरजानन्द (४)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

कुछ ही दिनों के भीतर स्वामीजी ने कालीकृष्ण तथा और भी तीन ब्रह्मचारियों[१०] को संन्यास-दीक्षा प्रदान करने का संकल्प किया। श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव के उपरान्त स्वामीजी तथा उनके त्यागी गुरुभाइयों के संन्यास-ग्रहण के उपलक्ष्य में वराहनगर मठ में (जनवरी १८८७ ई. में) जो विरजा-होमाग्नि प्रज्वलित हुई थी,[११] उसके बाद पहली बार यह विरजा होम हो रहा था। यह १८९७ ई. के प्रारम्भ की घटना है। स्वामीजी के आदेश पर उनके गृही शिष्य शरत् चन्द्र चक्रवर्ती ने संन्यास के प्रत्याशियों के आत्म-श्राद्ध आदि कार्यों में पौरोहित्य किया था। स्वामी रामकृष्णानन्द ने पूजा तथा मंत्रोच्चारण के साथ होमाग्नि को प्रज्वलित किया था। संन्यास-दीक्षा पूरी हो जाने के बाद स्वामीजी ने कालीकृष्ण को नया नाम दिया – 'स्वामी विरजानन्द'।

आलमबाजार मठ में अनुष्ठित इस ऐतिहासिक संन्यास-यज्ञ की स्मृति और स्वामीजी की उस दिन की अपूर्व ज्योतिर्घन मूर्ति स्वामी विरजानन्द के मानस-पटल पर सदा के लिये अंकित हो गयी थी। विरजानन्दजी के ही शब्दों में – "उनका स्वत: प्रदीप्त मुख-मण्डल होमाग्नि की उज्ज्वल प्रभा से अपूर्व ज्योतिष्मान हो उठा। ऐसा लग रहा था मानो साक्षात् अग्नि-देवता ही नर-विग्रह धारण करके विराजमान हों। हम लोगों को संन्यास-दीक्षा देने के बाद स्वामीजी के आनन्द की सीमा न थी। गृहस्थ के घर में पुत्र होने पर शायद उसे भी इतना आनन्द नहीं होता होगा।"

स्वामीजी ने उस दिन चारों नवीन संन्यासियों को हृदय से आशीर्वाद देते हुए कहा था, "तुम लोग मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ व्रत ग्रहण करने को प्रस्तुत हो; धन्य है तुम्हारा जन्म, धन्य है तुम्हारा वंश और धन्य है तुम्हारी माता! – **कुलं पवित्रं जननी कृतार्था**।" उस दिन विरजानन्द आदि की ओर इंगित करते हुए त्यागमूर्ति स्वामीजी ने कहा था, "ये लोग ब्रह्मचर्य से दीप्त होकर ज्वलन्त अग्नि की भाँति निवास करेंगे।"

इस अनुष्ठान के कुछ दिनों बाद जब गोपाल की माँ मठ में आयीं, तो उन्होंने नवीन संन्यासियों को देखकर खूब आनन्द व्यक्त किया था। 'विरजानन्द' नाम सुनकर वे बोल उठीं, "अहा, अच्छा नाम हुआ है, ठीक नाम हुआ है – विरजानन्द – इसमें बेजार[१२] नहीं है।"

विरजानन्द के जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। अब स्वामीजी के चरणों में बैठकर उनकी ज्ञान-भक्ति-योग तथा कर्म के समन्वित आदर्श की शिक्षा तथा साधना शुरू हुई। इन्हीं दिनों उन्हें स्वामीजी की व्यक्तिगत सेवा करने का दुर्लभ सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। श्रीगुरु से '**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**' का मंत्र पाने के कुछ काल बाद उन्हीं के आदेश से अकाल-पीड़ितों की सेवा करने हेतु विरजानन्दजी को देवघर (वैद्यनाथ) भेजा गया। उनके संचालन में देवघर का सेवाकार्य बड़ी कुशलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था। इसी समय देवघर में उनका मनीषी राजनारायण बसु के साथ परिचय हुआ।

स्वामी तुरीयानन्द बड़े स्नेहपूर्वक विरजानन्द को शास्त्र आदि पढ़ाया करते थे। आलमबाजार मठ-भवन में ऊपर चढ़ने की सीढ़ी के नीचे एक कोने में बैठकर वे एकाकी शास्त्र-पाठ करते – हरि महाराज सीढ़ी से उतरते-चढ़ते समय उनके पास आकर बैठते और पाठ समझा देते। इन दिनों हरि महाराज के साथ उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ गया था कि उनके परवर्ती जीवन पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा था। मन में इस काल की स्मृति जागने पर वे हरि महाराज के बारे में कहते, "आलमबाजार मठ में आकर हरि महाराज बड़े अन्तर्मुख भाव में रहते थे। परिव्राजक जीवन समाप्त करके वे मठ में आनेवाले थे, इसी प्रसंग में शशी महाराज ने कहा – 'देखेगा, कैसे सिद्ध महापुरुष हैं'। पहले मैं हरि महाराज से बड़ा संकोच करके रहता था, परन्तु उन्होंने अपने स्नेह-प्रेम से मुझे ऐसा बाँध लिया था कि मैं उनके साथ घनिष्ठ रूप से मिलता और अपने अवकाश का सारा समय उनके संग तथा उनके साथ बातें करने में बिता देता।"

उन दिनों मठ में नियमित रूप से चर्चा, व्याख्यान, लेखों का पाठ आदि के माध्यम से शास्त्र-व्याख्या हुआ करती थी। स्वामीजी के निर्देशानुसार प्रति रविवार बारी-बारी से एक-एक व्यक्ति को एक-एक विषय पर समवेत साधु-मण्डली के समक्ष व्याख्यान अथवा प्रबन्ध-पाठ करना पड़ता था। विरजानन्द

१०. सुशील (प्रकाशानन्द), कानाई (निर्भयानन्द) तथा योगेन चैटर्जी (नित्यानन्द)। ११. जनवरी, १८९७ ई.

१२. नाराजगी, क्रोध या उदासीनता का भाव

का व्याख्यान हरि महाराज को विशेष प्रिय था – उनकी पठन-शैली की वे खूब प्रशंसा किया करते थे। एक बार बलराम-मन्दिर में आयोजित ऐसी ही एक गोष्ठी में बिना किसी तैयारी के विरजानन्द द्वारा दिये गये सुन्दर संक्षिप्त भाषण को सुनकर स्वामीजी भी बड़े आनन्दित हुए थे।

१८९८ ई. के फरवरी में मठ को बेलूड़-स्थित नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया। बाद में उसी वर्ष ९ दिसम्बर को बेलूड़ में वर्तमान स्थायी मठ की स्थापना हुई। १८९९ के प्रारम्भ में ही स्वामीजी ने विरजानन्द तथा प्रकाशानन्द को ढाका में प्रचार-कार्य के निमित्त मनोनीत किया। प्रकाशानन्द प्रचार के लिये जाने को सहमत हुए, परन्तु विरजानन्द ने अपनी अक्षमता की बात कही। कई प्रकार से आगा-पीछा करने के बाद आखिरकार वे स्वामीजी से विनयपूर्वक बोले, "मैंने साधन-भजन तो बिल्कुल भी नहीं किया, अब तक भगवान को नहीं प्राप्त कर सका; मैं भला क्या व्याख्यान दूँगा?" स्वामीजी उन्हें समझाते हुए बोले, "तू आचार्य के अभिमान से नहीं बोलेगा, जैसे सेवा-भाव से अन्य कार्य करता है, उसी भाव से व्याख्यान भी देना।"

स्वामीजी उन दिनों कोलकाता के बलराम मन्दिर में निवास कर रहे थे। उन्होंने विरजानन्द को वहीं बुलाकर उपरोक्त प्रस्ताव दिया था। पहले तो विरजानन्द किसी भी प्रकार राजी नहीं हो रहे थे, परन्तु अन्ततः गुरुदेव का आदेश शिरोधार्य करने को बाध्य हुए थे। गुरु तथा शिष्य के बीच हुआ वह संवाद जैसा शिक्षाप्रद है, वैसे ही मर्मस्पर्शी भी है। वर्तमान लेख के प्रारम्भ में ही हम उसका उल्लेख कर आये हैं।

विरजानन्द तथा प्रकाशानन्द के ढाका-प्रस्थान के पूर्व स्वामीजी मठ के ठाकुर-घर में गये और वहाँ काफी देर तक ध्यान किया। इसके बाद उन्होंने विरजानन्द तथा प्रकाशानन्द को पास बैठाकर, उनके सिर पर हाथ रखकर खूब आशीर्वाद देते हुए बोले, "विश्वास करो, उनकी शक्ति तुम्हारे भीतर संक्रमित हो चुकी है। जान लो कि यह संघ ही ठाकुर का समष्टि शरीर है।" स्वामीजी ने उस दिन अपने इन दोनों शिष्यों में न केवल 'शक्ति-संचार' किया, बल्कि विरजानन्द को इसके अतिरिक्त कुछ विशेष भी दिया था। उस दिन उन्होंने विरजानन्द को उपयुक्त प्रार्थी को मंत्रदान का अधिकार भी प्रदान किया था; यह भी बता दिया था कि कौन-सा मंत्र देना होगा। सामान्य दृष्टि से तो विरजानन्द १९३८ ई. के अन्तिम भाग में धर्मगुरु के आसन पर विराजमान हुए, परन्तु जगद्गुरु स्वामीजी द्वारा वे काफी पूर्व ही उस आसन के लिये मनोनीत हो गये थे। यह उनके जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। विरजानन्द के अपने हाथ से लिखी हुई व्यक्तिगत दैनन्दिनी में प्राप्त इस घटना का सविस्तार विवरण हम लोगों के लिये विशेष प्रेरणादायी है। स्वामीजी के अभय हाथों के स्पर्श से शक्तिमान होकर दोनों गुरु-भाइयों ने श्रीरामकृष्ण के सन्देश का प्रचार करने के निमित्त ४ फरवरी, १८९९ के दिन पूर्व बंगाल की यात्रा की।

परन्तु कुछ काल बाद ही स्वामीजी ने प्रकाशानन्द को मठ में वापस बुला लिया और विरजानन्द अकेले ही ढाका में रहकर प्रचार-कार्य चलाते रहे। उन्होंने ढाका के अतिरिक्त बारीसाल में भी बड़ी दक्षता के साथ श्रीरामकृष्ण का भाव-प्रचार किया था। उनका स्वभाव-सिद्ध मधुर-गम्भीर तथा प्रशान्त-विनम्र चरित्र सबको आकृष्ट कर लेता था। बारीसाल में वे कुछ दिनों तक महात्मा अश्विनी कुमार दत्त के अतिथि के रूप में रहे। अश्विनी बाबू के घर पर निवास के दौरान प्रतिदिन बहुत-से जिज्ञासु तथा अनेक आदर्शवादी युवक उनके पास आकर उपदेश ग्रहण किया करते।

प्रकाशानन्द के मठ लौटने के पूर्व, दोनों ने नारायणगंज के पास देवभोग ग्राम में स्थित भक्तचूड़ामणि नाग महाशय के घर जाकर उनका संग किया था। दोनों संन्यासियों को पाकर नाग महाशय के आनन्द की सीमा नहीं रही और उनका घर एक समारोह-मण्डप में परिणत हो गया था। विरजानन्द ने पहले भी, मठ तथा काँकुड़गाछी में नाग महाशय का संग प्राप्त किया था। अब उन भक्त-प्रवर का घर देखकर वे और भी तृप्त हुए।

पूर्व बंगाल का प्रचार-कार्य समाप्त करके मठ में लौटने के बाद विरजानन्द ने अपना पूरा मन-प्रण स्वामीजी की व्यक्तिगत सेवा में लगा दिया। निरन्तर अमानुषिक परिश्रम करने के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य तब टूट रहा था। चिकित्सा आदि की सुविधा के लिये उन्होंने कोलकाता के बलराम मन्दिर में कुछ दिन बिताये थे। स्वामीजी के एक गुरुभाई तुरीयानन्दजी (हरि महाराज) भी उन दिनों वहीं ठहरे हुए थे। सभी एक ही कमरे में निवास कर रहे थे। विरजानन्द के आन्तरिक अनुरागमय तथा त्रुटिहीन सेवा से स्वामीजी खूब प्रसन्न हुए थे। सेवा के विभिन्न कार्यों में लगे रहने से सारे दिन उन्हें क्षण भर के लिये भी विश्राम नहीं मिलता था। रात में भी वे इस चिन्ता में सो नहीं पाते कि स्वामीजी न जाने कब किस कार्य के लिये पुकार बैठें। परन्तु इसके बावजूद उनके शरीर में कोई थकान नहीं थी – उनका हृदय-मन गुरुसेवा की तृप्ति से भरपूर रहता। एक दिन रात के समय हरि महाराज ने उनसे पूछा था, "क्यों रे, तू रात में सोता नहीं है?" उत्तर में विरजानन्द ने कहा था, "नहीं, नींद ही नहीं आती।" इस पर हरि महाराज ने विस्मयपूर्वक कहा था, "क्या तुझे थकान नहीं लगती?" उन्होंने संकोचपूर्वक उत्तर दिया, "कहाँ, नहीं तो।" इस प्रकार एक-एक कर वे तीन महीनों तक सोये ही नहीं।

चिकित्सकों की सलाह पर एक बार और स्वामीजी की विदेश-यात्रा की व्यवस्था हुई। १९ जून, १८९९ को मठ में

उनके साथ एक ग्रुप फोटो लिया गया था। उस समय विरजानन्द स्वामीजी के लिये भोजन पकाने में लगे हुए थे और स्वामीजी की पुकार सुनकर दौड़ते हुए आकर फोटो के लिये खड़े हो गये थे। भोजन बनाते समय वे जिस हालत में थे, वैसे ही खड़े हो गये – शरीर पर कुर्ता डालने का उन्हें समय नहीं मिला था। स्वामीजी के साथ फोटो खिंचवाने के बाद जब वे पुन: अपने कार्य पर लौट रहे थे, तो सहसा उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा फूट निकली थी। अगले दिन स्वामीजी ने अपनी द्वितीय अमेरिका-यात्रा के निमित्त कोलकाता बन्दरगाह से लन्दन के लिये प्रस्थान किया। उनके साथ हरि महाराज तथा भगिनी निवेदिता भी रवाना हुए।

इसके बाद स्वामीजी के निर्देशानुसार विरजानन्द को कर्मी के रूप में हिमालय के मायावती अद्वैत आश्रम में भेजा गया। स्वामीजी ने उन्हें पहले से ही मायावती के लिये चुन रखा था, परन्तु विरजानन्द ने उस समय सविनय कहा था – "जितने दिन आप यहाँ हैं, उतने दिन आपके पास रहूँगा, उसके बाद चला जाऊँगा।" स्वामीजी ने भी इस पर सहमति प्रदान की थी। विमलानन्द तथा बूढ़े बाबा (सच्चिदानन्द) भी विरजानन्द के साथ मायावती के लिये रवाना हुए।

कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर नामक स्वामीजी के शिष्य अंग्रेज दम्पति के उत्साह-उद्यम तथा धन से मायावती का कार्य आरम्भ हुआ था। श्रीमती सेवियर को स्वामीजी 'माँ' के रूप में सम्बोधित करते थे, इसीलिये वे सबके बीच 'मदर सेवियर' के नाम से परिचित हुईं। संघ के अंग्रेजी मुखपत्र 'प्रबुद्ध-भारत' को अद्वैत आश्रम से ही प्रकाशन की व्यवस्था हुई थी और स्वरूपानन्द सम्पादक नियुक्त होकर पहले ही वहाँ जा चुके थे। श्रीगुरु के निर्देश पर गुरुभ्रातागण उन्हीं के इच्छित कर्म के सम्पादन हेतु हिमालय की गोद में जाकर एकत्र हुए। सभी मिलकर अदम्य उत्साह तथा अथक चेष्टा के द्वारा स्वामीजी के अत्यन्त प्रिय अद्वैत-वेदान्त की साधना तथा प्रचार के इस आदर्श केन्द्र को गढ़ डालने का दृढ़ संकल्प किया। सबकी सम्मिलित शक्ति लगाने के फलस्वरूप कार्य अद्‌भुत गति के साथ चलने लगा। कैप्टेन सेवियर सहसा कठिन रोग से आक्रान्त हुए और मायावती में ही देहत्याग कर दिया। गुरु की सेवा में लगे इन महामानव ने हिमालय की गोद में चिर-विश्राम लिया। यह १९०० ई. के अक्तूबर माह की घटना है। स्वामीजी उस समय यूरोप में थे।

दिसम्बर के प्रारम्भ में स्वामीजी बेलूड़ मठ में लौट आये। वे एक बार मायावती जाकर शोक-सन्तप्त मदर सेवियर को सांत्वना देने के लिये उत्कण्ठित थे। उन दिनों मायावती जाने के लिये काठगोदाम स्टेशन से पैदल, घोड़े पर अथवा डण्डी में ६५ मील की यात्रा करनी पड़ती थी। स्वामीजी ने तार द्वारा सूचित किया कि वे २९ दिसम्बर (१९००) को काठगोदाम पहुँचेंगे। उनके साथ मठ के दो और संन्यासी – गुरुभ्राता स्वामी शिवानन्द तथा शिष्य सदानन्द भी रहेंगे। विरजानन्द ने गाँव-गाँव में घूमकर यथा आवश्यक डण्डियों तथा कुलियों की व्यवस्था की और केवल दो दिनों में ही ६५ मील के दुर्गम पर्वतीय मार्ग को पैदल पार करके २८ दिसम्बर को रात १२ बजे काठगोदाम पहुँच गये। अगले दिन भोर में ५ बजे स्वामीजी की ट्रेन आयी।

विरजानन्द को देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। इस अल्प अवधि में ही जिस प्रकार वे लोगों को एकत्र करके इतना लम्बा मार्ग पार करके काठगोदाम आ पहुँचे थे, इसे सुनकर स्वामीजी परम स्नेह तथा आह्लाद के साथ कह उठे – "वाह, यही तो मेरा ठीक-ठीक चेला है।"

विरजानन्द को चिन्ता थी कि स्वामीजी उनके साथ इस सुदीर्घ तथा दुर्गम पर्वतीय पथ पर जा सकेंगे या नहीं। स्वामीजी की शारीरिक दुर्बलता ही इस चिन्ता का कारण थी। उस समय भी उन्हें थोड़ा-थोड़ा बुखार था। अस्तु, स्वामीजी डण्डी में बैठकर गये। टोली के अन्य सभी लोग उनके आगे-पीछे, कोई पैदल तो कोई घोड़े पर चल रहे थे। काफी काल बाद हिमालय के ध्यान-गम्भीर परिवेश में आकर स्वामीजी बड़े ही आनन्दित थे। पहले दिन १७ मील चलने के बाद एक डाक-बँगले में रात्रिवास की व्यवस्था हुई। अगले दिन मार्ग में सहसा प्राकृतिक प्रकोप का सामना करना पड़ा – वर्षा तथा हिमपात के बीच ही यात्री-दल स्वामीजी को साथ लेकर किसी प्रकार आगे बढ़ा। गन्तव्य डाक-बँगला तब भी बहुत दूर था। इधर स्वामीजी के डण्डी-वाहकों ने चाय-तम्बाकू पीने के बहाने डण्डी को उतारकर थोड़ा विश्राम करने की इच्छा व्यक्त की। स्वामीजी ने उनके परम मित्र के समान अनुमति दे दी। बालक-स्वभाव स्वामीजी का यह कार्य देखकर विरजानन्द बड़ी चिन्ता में पड़ गये। क्योंकि पहाड़ी कुलियों का स्वभाव उन्हें खूब मालूम था – उनके एक बार बैठ जाने के बाद उन्हें फिर उठाना बड़ा कठिन था। जो आशंका थी, वही हुआ। पहाड़ पर रात का अन्धकार फैलता जा रहा था और प्रबल वर्षा तथा बर्फ की आँधी रुकने का नाम नहीं ले रही थी। अन्य कोई चारा न देख विरजानन्द स्वामीजी को एक पहाड़ी दुकान में ले गये और वहीं रात बिताने का निश्चय किया। बर्फ पड़ने के कारण भयंकर ठण्ड पड़ रही थी और उस जीर्ण कुटीर के भीतर आग जलाने से चारों ओर धुँआ फैल रहा था। उस ३१ दिसम्बर, १९०० ई. के दिन, वही उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम रात थी।

स्वामीजी बालक के समान नाराजगी व्यक्त करते हुए शिवानन्द जी से बोले, "मान लिया कि कालीकृष्ण बालक है, परन्तु तारकदा, आप तो वृद्ध हैं। आप कौन-सी बुद्धि लगाकर मुझे इस संकटपूर्ण मार्ग से ले आये?" इसके

बाद वे विरजानन्द को डाँटते हुए बोले, "क्यों तूने मुझे काठगोदाम से अल्मोड़ा जाने से मना करके सीधे मायावती जाने के लिये हठ किया था?"

परन्तु विरजानन्द हर दृष्टि से स्वामीजी के पक्के चेले थे। उन्होंने चुपचाप यह डाँट सुनी और इसके बाद विनय-पूर्वक बोले, "परन्तु दोष तो आपका ही है। मैंने तो आपको मना किया था, परन्तु आपने ही तो कुलियों को डण्डी उतारने की अनुमति देकर यह संकट पैदा किया। वे लोग यदि यहाँ पर इतना विलम्ब नहीं करते, तो हम लोग जैसे भी होता, डाकबँगले तक पहुँच जाते।"

शिष्य का यह दृढ़ आत्मविश्वास देखकर स्वामीजी शिशु के समान तत्काल शान्त होकर स्नेहपूर्वक बोले, "ठीक है, जो होना था, सो तो हो गया। मैंने जो डाँटा, उसका खयाल मत करना। बाप भी तो बेटे को डाँटता है। आ, अब जैसे भी सम्भव हो, यहाँ रात बिताने की व्यवस्था की जाय।"

पहाड़ी दुकानदार द्वारा बनायी गयी मोटी-मोटी रोटियाँ चबाकर उस रात का भोजन समाप्त हुआ। रात अनिद्रा में ही बीती। विभिन्न विषयों पर चर्चा चल रही थी। विरजानन्द ने स्वामीजी से कहा – उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होकर बीसवीं शताब्दी आ रही है और इस संध्या तथा रात का इस प्रकार बीतना मानो किसी गहन तात्पर्य का सूचक है। यह सुनकर स्वामीजी कुछ सोचकर जरा-सा हँसे।

शताब्दियों के सन्धिकाल का यह घटना-चित्र विरजानन्द के जीवन में कई कारणों से पवित्र तथा भावपूर्ण था। परवर्ती काल में, अपनी जीवन-संध्या में भी जब वे किसी सूत्र से इस पुण्य-स्मृति का दूसरों के समक्ष वर्णन करते, तो उस समय जिनको भी वहाँ उपस्थित रहने तथा उनके उज्ज्वल मुख-मण्डल को देखने का सौभाग्य मिला है, उन सभी ने इस बात को अनुभव किया है। इसी प्रकार एक जन की स्मृतिकथा इस प्रकार है –

"१९५० ई. के मार्च में विरजानन्द जी पटना आये। महापुरुष महाराज एक समय जिस तख्त पर सोये थे, महाराज के शयन के लिये आश्रम में उसी तख्त को भेजा गया था। परन्तु प्रश्न था कि उनके लिये गद्दी कैसे बनायी जाय! हम लोगों ने महाराज के बिस्तर के नीचे बिछाने के लिये उस अंचल की रिवाज के अनुसार सूखे पुआलों से एक गद्दी बना दी। एक दिन सुबह प्रणाम करने जाकर मैंने पूछा, "महाराज, आपके विश्राम में कोई असुविधा तो नहीं हुई? बिस्तर कड़ा तो नहीं लग रहा था!" महाराज ने तत्काल हँसते हुए उत्तर दिया, "यह तो बड़ा अच्छा नरम बिस्तर है। मुझे अच्छी नींद आयी।" इस पर थोड़ा आश्वस्त होकर मैंने धीरे-धीरे उन्हें बताया कि उन्हीं के लिये सूखे पुआलों से वह गद्दी बनवायी गयी है। यह बात सुनकर वे बड़े खुश हुए। बोले, 'तू तो बड़ा जोगाड़ी है रे! देख, मेरे जीवन में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी। तुम्हारी तो यह बड़ी साधारण-सी बात है, परन्तु मेरे लिये वह बड़ी गम्भीर बात थी। स्वामीजी को साथ लेकर मायावती जा रहा था। एक झोपड़ी में रात बितानी पड़ी। भयंकर हिमपात हो रहा था। बर्फ की ऐसी आँधी चल रही थी कि महापुरुष महाराज ने दरवाजे से पीठ लगाकर बैठे हुए सारी रात बितायी थी। उस समय बिस्तर और तकिये की तो कोई बात ही नहीं थी। जो भी चीजें हाथ में आयीं, उन्हें इकट्ठा करके मैंने एक चादर में लपेटकर तकिये जैसा बनाया और स्वामीजी के सिर के नीचे लगा दिया। मैंने सारी रात बैठकर पहरा देते हुए बितायी। अगले दिन भोर के समय स्वामीजी बोले – 'देख, कल बड़ी अच्छी नींद आयी।' इसके बाद जब उन्होंने उस अद्भुत तकिये की बात सुनी, तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा! बोले – 'कालीकृष्ण, तू तो बड़ा जोगाड़ी है।' "

अगले दिन सुबह १२ इंच ऊँचे बर्फ के ऊपर से होकर सबने पुनः यात्रा शुरू की। स्वामीजी उस समय एक बालक के समान खूब प्रफुल्ल भाव से आनन्द लेते हुए चल रहे थे। यह रात भी एक डाक-बँगले में बितानी पड़ी। इसके बाद वाले दिन बर्फ काफी कुछ गल चुकी थी। इस दिन २१ मील चलना पड़ा था।

इस यात्रा का अन्तिम कुछ भाग स्वामीजी विरजानन्द के कन्धे का सहारा लेकर पैदल चले थे। शिष्य के कन्धे पर अपने शरीर का भार डालकर चलते हुए वे बोले, "देख, पहले २०-२५ मील चलना मेरे लिये कुछ भी नहीं था। परन्तु अब मैं कैसा दुर्बल हो गया हूँ। इतना सा चलने में भी कितने कष्ट का बोध हो रहा है!" थोड़ी देर बाद वे फिर बोले, "देखो भाई, अब तो मैं जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँच गया हूँ।" सुनकर विरजानन्द का हृदय काँप उठा। अस्तु, इसी प्रकार पथ चलते हुए पाँचवे दिन (३ जनवरी, १९०१) स्वामीजी ने मायावती-आश्रम में पदार्पण किया। हिमपात के कारण मार्ग में यदि बाधा न आती, तो वे लोग एक दिन पहले ही पहुँच जाते।

❖ (क्रमशः) ❖

Ramakrishna Mission

Near RIMS Hopital, Kadapa 516002 (A.P.) Phone 200120, 200633
E-mail : kadapamath@yahoo.com web : www.rkm-kadapa.org

एक अपील

श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, श्री स्वामी विवेकानन्द जी की कृपा और भक्ति तथा मित्रों के हार्दिक सहयोग से कड़प्पा के रामकृष्ण मिशन ने अल्प समय में ही काफी उन्नति कर ली है। रिम्स अस्पताल के निकट स्थित १० एकड़ के परिसर से अब मिशन की प्रमुख गतिविधियाँ संचालित हो रही हैं। (१) एक नि:शुल्क छात्रावास, जिसमें ग्रामीण अंचल के हाई स्कूल के छात्रों को रखा जाता है। वर्तमान में – ३० बच्चे। (२) विशाल सभागार – विभिन्न सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्यक्रमों हेतु। (३) कार्यालय, ग्रन्थालय तथा साहित्य विक्रय भवन। (४) विवेकानन्द विद्या-निकेतन स्कूल भवन। (५) सन्त-निवास और (६) कर्मचारी-आवास।

आश्रम में पूजा, भजन, प्रवचन, आध्यात्मिक शिविर, मुफ्त पुस्तकालय तथा मुफ्त साप्ताहिक होम्योपैथी चिकित्सा की नियमित गतिविधियाँ चलती हैं। इसके अतिरिक्त आदर्श शिक्षण, कृषि प्रशिक्षण, अँग्रेजी में बोलने की शिक्षा आदि कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। आवश्यकतानुसार भोजन-वस्त्र आदि वितरण के रूप में नारायण सेवा भी की जाती है, जैसा कि अक्टूबर २००९ में कर्नूल जिले में आयी भयंकर बाढ़ के समय किया गया था।

श्रीरामकृष्ण के सार्वजनीन मन्दिर की आधारशिला, रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ के उपाध्यक्ष श्रीमत स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज के कर-कमलों से ६ सितम्बर, २००९ को स्थापित की गई थी। मन्दिर का निर्माण कार्य यथाशीघ्र आरम्भ करने में हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं। स्कूल के लिये फर्नीचर, वाहन तथा शैक्षणिक गतिविधियों के सुचारू परिचालन हेतु एक स्थायी कोष के निर्माण की भी आवश्यकता है।

सार्वजनीन मन्दिर

* पूजागृह २०'x२०' मुख्य गुम्बज की ऊँचाई पर ४२ फीट
* प्रार्थना हॉल – ५५' x ३३', बैठने की क्षमता २२५ व्यक्ति
* बरामदा १६३' x ९.७५' तीन तरफ, क्षमता १५० व्यक्ति
* सामने खुला बरामदा – ८०'x४०', क्षमता – २५० व्यक्ति
* पूजा व्यवस्था कक्ष तथा भंडार।

हम एक बार पुन: आपसे निम्नलिखित में से किसी भी मद में उदारतापूर्वक दान करने का अनुरोध करते हैं –

श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर – रु. १४० लाख
स्कूल के लिए फर्नीचर, उपकरण, २ बस – रु. २५ लाख
शैक्षणिक तथा अन्य गतिविधियों के
सुचारु परिचालन हेतु – रु. १०० लाख

राशि छोटी या बड़ी, सधन्यवाद स्वीकार की जायेगी। आश्रम को दिये गये दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अन्तर्गत कर मुक्त है।

कृपया चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन, कड़प्पा' (Ramakrishna Mission, Kadapa या (Cuddapah) के नाम से बनवायें – जो कड़प्पा (Kadapa) में प्रदेय हों।

प्रभु की सेवा में

स्वामी आत्मविदानन्द
सचिव